# अखण्ड ज्योति

( देश देशान्तरों में प्रचारित, उच्च कोटि का आध्यात्मिक मासिक-पत्र )

वार्षिक मू० २॥)

अन्देश नहीं मैं स्वर्ग लोक का लाई।
इस भूतल को ही स्वर्ग बनाने आई॥

एक अंक का ।)

सम्पादक—पं० श्रीराम शर्मा आचार्य,     सहा० सम्पादक—प्रो० रामचरण महेन्द्र एम०ए०

वर्ष ९ ]     मथुरा, १ दिसम्बर सन् १९४८ ई०     [ अंक


## पराजय में विजय का बीज छिपा होता है।

यदि सच्चा प्रयत्न करने पर भी तुम सफल न हो सको तो कोई हानि नहीं। पराजय बुरी वस्तु नहीं है, यदि वह विजय के मार्ग में अग्रसर होते हुए मिली हो। प्रत्येक पराजय विजय की दशा में कुछ आगे बढ़ जाना है। उच्चतर ध्येय की ओर पहली सीढ़ी है। हमारी प्रत्येक पराजय यह स्पष्ट करती है कि अमुक दिशा में हमारी कमजोरी है, अमुक तत्व में हम पिछड़े हुए हैं या किसी विशिष्ट उपकरण पर हम समुचित ध्यान नहीं दे रहे हैं। पराजय हमारा ध्यान उस ओर आकर्षित करती है, जहां हमारी निर्बलता है, जहाँ मनोवृत्ति अनेक ओर बिखरी हुई है, जहां विचार और क्रिया परस्पर विरुद्ध दिशा में बढ़ रहे हैं, जहां दुःख, क्लेश, शोक, मोह इत्यादि परस्पर विरोधी इच्छाएँ हमें चंचल कर एकाग्र नहीं होने देतीं।

किसी न किसी दिशा में प्रत्येक पराजय हमें कुछ सिखा जाती है। मिथ्या कल्पनाओं को दूर कर हमें कुछ न कुछ सबल बना जाती है, हमारी विशृंखल वृत्तियों को एकाग्रता का रहस्य सिखाती है। अनेक महापुरुष केवल इसी कारण सफल हुए क्योंकि उन्हें पराजय की कड़वाहट को चखना पड़ा था। यदि उन्हें यह पराजय न मिलती, तो वे महत्वपूर्ण विजय कदापि प्राप्त न कर सकते। अपनी पराजय से उन्हें ज्ञात हुआ कि उनकी संकल्प और इच्छा शक्तियाँ निर्बल हैं, चित्त स्थिर नहीं है, अन्तःकरण में आत्म शक्ति पर्याप्त रूप से जाग्रत नहीं है इन भूलों को उन्होंने समझा और उन्हें दूर करके विजय के पथ पर अग्रसर हुए।

# पहिले इस पृष्ठ को पढ़ लीजिए

## 'अखंडज्योति' के पाठकों को कुछ आवश्यक सूचनाएँ।

(१) यह अंक इस वर्ष का अन्तिम अंक है। इस अंक के साथ अधिकांश ग्राहकों का चंदा समाप्त होजाता है। पाठकों से प्रार्थना है कि अपना चन्दा मनीआर्डर से भेजदें। वी० पी० में व्यर्थ ही छै आने अधिक खर्च पड़ते हैं। अकारण छै आने गंवाना कोई बुद्धिमत्ता नहीं है।

(२) अगला (जनवरी ४६ का) अंक "स्वास्थ्य अंक" होगा। बीमारियों से छुटकारा पाने और स्वास्थ्य की उन्नति करने की इच्छा रखने वालों के लिए यह एक अमूल्य वस्तु होगी। गत विशेषाङ्कों की भांति इसके भी बहुत शीघ्र समाप्त होजाने की संभावना है। इसलिए अपना चंदा भेजने में विलम्ब न करना चाहिए। देर से चंदा भेजने वालों को 'स्वास्थ अंक' से वंचित रहना पड़े तो कोई आश्चर्य नहीं।

(३) मनीआर्डर कूपन पर अपना ग्राहक नम्बर और पूरा पता हिन्दी या अंग्रेजी में साफ साफ लिखना चाहिए। अधूरा या घसीट कर लिखा हुआ पता ठीक प्रकार न पढ़ाजाने से कुछ का कुछ दर्ज होजाता है और पत्रिका बीच में ही गुम होती रहती है।

(४) पुराने ग्राहक अपना ग्राहक नम्बर अवश्य लिखें। नये ग्राहक मनीआर्डर कूपन पर "नयाग्राहक" शब्द लिखदें। जिन्हें ग्राहक न रहना हो वे एक कार्ड भेजकर अपने निर्णय की सूचना दे देने की कृपा करें।

(५) अधूरे वर्ष का हिसाब रखने में हमें बड़ी असुविधा होती है। उधर ग्राहकों की फाइलें भी अधूरी रहती हैं। इसलिए जिनका हिसाब बीच के किसी महीने से चलता है उन ग्राहकों से विशेष आग्रह पूर्वक अनुरोध है, कि अगले वर्ष के शेष महीनों का भी चन्दा भेजकर अपना हिसाब शुरू साल से ही रखें।

(६) यदि कभी पता बदलवाना हो तो (१) ग्राहक नम्बर (२) पुराना पता (३) नया पता, तीनों बातें लिखकर सूचना देनी चाहिए। केवल नया पता भेजने से पता बदलना कठिन होता है।

(७) यहां से हर महीने दो बार भली प्रकार जांच कर पत्रिका भेजी जाती है। फिर भी यदि किसी महीने का अंक न पहुंचे तो उस महीने के भीतर ही न पहुंचने की सूचना हमें देनी चाहिए। कई महीने बाद सूचना होने पर पुराने अंक समाप्त होजाते हैं, तब उन्हें भेजना कठिन होता है।

(८) 'अखंडज्योति' के ग्राहक बढ़ाना एक प्रकार से सतोगुणी फल उत्पन्न करने वाले वृक्ष लगाना है। इससे (१) ग्राहकों को आत्मकल्याण का, सुख शान्ति का मार्ग मिलता है (२) 'अखंडज्योति' की शक्ति बढ़ने से वह यह लोक सेवा के कार्यों को अधिक मात्रा में, अधिक शीघ्रता से, अधिक सफलता के साथ, पूरा करती है। इस प्रकार 'अखंडज्योति' के ग्राहक बढ़ाना एक स्वल्प श्रम का महान् पुण्य कार्य है। इस दिशा में शक्तिभर प्रयत्न करने के लिए हम अपने पाठकों से अनुरोध करते हैं।

—व्यवस्थापक "अखंड ज्योति" कार्यालय, मथुरा।

सत्य
प्रेम
न्याय
अखण्ड ज्योति
- मथुरा -

मथुरा, १ दिसम्बर सन् १९४८ ई०

# स्वाध्याय में प्रमाद मत करो।

जितने सन्त तथा महापुरुष हुए हैं उन्होंने स्वाध्याय की महिमा का गान किया है। हिन्दू शास्त्रों में लिखा है कि 'स्वाध्याय में प्रमाद नहीं करना चाहिए चाहिए।'

स्वाध्याय के अर्थ के सम्बन्ध में लोगों में अनेक मतभेद है। कुछ लोग पुस्तकें पढ़ने को स्वाध्याय कहते हैं, कुछ लोग खास प्रकार की पुस्तकें पढ़ने को स्वाध्याय कहते हैं। कुछ का कहना है कि आत्म निरीक्षण करते हुए अपनी डायरी भरने का नाम स्वाध्याय है। वेद के अध्ययन का नाम भी कुछ लोगों ने स्वाध्याय रख छोड़ा है। लेकिन इतने अर्थों का विवाद उस समय अपने आप ही समाप्त हो जाता है जब मनुष्य के ध्यान में उसका लक्ष्य समाजाता है।

स्वाध्याय का विश्लेषण करने वालों ने इसके दो प्रकार से समास किये हैं—

स्वस्यात्मनो ऽध्ययनम्—अपना, अपनी आत्मा का अध्ययन, आत्मनिरीक्षण। स्वयमध्ययनम्—अपने आप अध्ययन अर्थात् मनन।

दोनों प्रकार के विश्लेषणों में इस का ही महत्व है। इसी लिए शास्त्रकारों का कथन है कि—

प्रत्यहं प्रत्यवेक्षेत नरश्चरितमात्मनः।
किन्नु मे पशुभिस्तुल्यं किन्नु सत्पुरुषैरिव॥

प्रति घड़ी प्रत्येक मनुष्य को अपने स्वयं के चरित्र का निरीक्षण करते रहना चाहिए कि उसका चरित्र पशुओं जैसा है अथवा सत्पुरुषों जैसा। आत्मनिरीक्षण की इस प्रणाली का नाम ही स्वाध्याय है। जितने महापुरुष हुए हैं वे सब इसी मार्ग का अनुसरण करते रहे। उन्होंने स्वाध्याय के इस मार्ग से कहीं भी अपने अन्दर कमी नहीं आने दी बल्कि समस्त कमियों को निकालने और पूर्णमानव बनने के उद्देश्य से इस मार्ग को ग्रहण किया।

'शतपथ' ब्राह्मण में लिखा है कि पानी बहता है क्यों कि उसका बहना ही धर्म है। सूर्य, चन्द्रमा, नक्षत्र चलते हैं क्यों कि गति करना, चलना यह उनका स्वभाव है। यदि ये अपने स्वभाव को छोड़ दें, गति हीन होजावें तो सृष्टि का काम ही रुक जावे। ऐसे ही ब्राह्मण का स्वाभाविक काम स्वाध्याय है जिस दिन वह स्वाध्याय नहीं करता उसी दिन वह ब्राह्मणत्व से पतित हो जाता है—

तदहरब्राह्मणो भवति यदहः स्वाध्यायंनाधत्ते।

वेद शास्त्रों में श्रम का सब से बड़ा महत्व है। हर एक को कुछ न कुछ श्रम नित्य प्रति करना ही चाहिए। श्रम इसी त्रिलोकी में होता है। भू, भुवः और स्वर्ग लोग ही श्रम का क्षेत्र है। इस श्रम के क्षेत्र में स्वाध्याय ही सबसे बड़ा क्षेत्र है। योगभाष्यकार व्यास का कहना है किः—

स्वाध्यायाद्योगमासीत योगात्स्वाध्यायमामनेत्।
स्वाध्याय योगसम्पत्त्या परमात्मा प्रकाशते।१।२८

अर्थात् स्वाध्याय द्वारा परमात्मा से योग करना सीखा जाता है और समत्वरूप योग से स्वाध्याय किया जाता है। योगपूर्वक स्वाध्याय से ही परमात्मा का साक्षात्कार हो सकता है।

अपने आपको जानने के लिए स्वाध्याय से बढ़कर अन्य कोई उपाय नहीं है। यहां तक इससे बढ़कर कोई पुण्य भी नहीं है। शतपथ ब्राह्मण में लिखा है कि:—

यावन्तंह वा इमां पृथिवीं वित्तेन पूर्णां ददल्लोकं जयति त्रिस्तावन्तं जयति भूयांसं वाक्षय्यं य एवं विद्वान् अहरहः स्वाध्यायमधीते।

जितना पुण्य धन धान्य से पूर्ण इस समस्त पृथिवी को दान देने से मिलता है उसका तीन गुना पुण्य तथा उससे भी अधिक पुण्य स्वाध्याय करने वाले को प्राप्त होता है।

मानवजीवन का धर्म ही एक मात्र आश्रय है। इस धर्म के यज्ञ अध्ययन एवं दान के ये ही तीन आधार हैं:—

त्रयोधर्मस्कन्धा यज्ञोऽध्ययनं दानमिति।
छान्दो० २।२३।१

अपने स्वत्व को छोड़ना दान कहलाता है और अपना कर्त्तव्य करना यज्ञ। लेकिन स्वत्व छोड़ने तथा कर्त्तव्य करने का ज्ञान देने वाला तथा उसकी तैयारी कराकर उस पथ पर अग्रसर कराने वाला स्वाध्याय या अध्ययन है।

किन्हीं किन्हीं महापुरुषों का कहना है कि स्वाध्याय तो तप है। तप के द्वारा शक्ति का संचय होता है। शक्ति के संचय से मनुष्य शक्तिवान बनता है। चमत्कार को नमस्कार करने वाले बहुत हैं, जिसके पास शक्ति नहीं है उसे कोई भी नहीं पूछता। इसलिए जो तपस्वी हैं उनसे सभी भयभीत रहते हैं और उनके भय से समाज अपने अपने कर्त्तव्य का सांगोपांग पालन करता रहता है।

तप का प्रधान अंग है एकाग्रता। निरन्तर, उत्कण्ठा पूर्वक एकाग्रता के साथ निश्चित समय पर जिस कार्य को किया जाता है उसमें अवश्य सफलता मिलती है। उत्कण्ठा से प्रेरणा मिलती है, और मनके विश्वास में दृढ़ता आती है। बिना दृढ़ता के दुनियां का कोई कार्य कभी भी सफल नहीं हुआ है। अनेकों में दृढ़ता की व्यक्ति की एकाग्रता के लिए अपेक्षा रहती है। और जब नियमितता आजाती है तो ये सब मिलकर तप का रूप धारण कर लेती है। यह तप आत्मा पर पड़े हुए मल को दूर करेगा और उसे चमका देगा।

तप का एक मात्र कार्य आत्मा पर पड़े हुए मल को—या आवरण को दूर करने मात्र का ही है। व्यास ने स्वाध्याय को परमात्मा का साक्षात्कार करने वाला इसी लिए बतलाया है क्योंकि जो आवरण के अन्धकार में चला गया है उसे प्रकट करने के लिए अन्धकार को दूर करने की आवश्यकता है।

जीवन का उद्देश्य कुछ भी हो, उस उद्देश्य तक जाने के लिए भी स्वाध्याय की आवश्यकता होती है। स्वाध्याय जीवन के उद्देश्य तक पहुंचने की खामियों को भी दूर कर सकती है। जो स्वाध्याय नहीं करते, वे खामियों को दूर नहीं कर सकते इसलिए चाहे ब्राह्मण हो—चाहे शूद्र प्रत्येक व्यक्ति अपने लक्ष्य से गिर सकता है।

स्वाध्याय को श्रम की सीमा कहा गया है। श्रम में ही पृथिवी से लेकर अन्तरिक्ष तथा स्वर्ग तक के समस्त कर्म प्रतिष्ठित हैं। बिना स्वाध्याय के सांगोपांग रूप से कर्म नहीं हो सकते और सांगोपांग हुए बिना सिद्धि नहीं मिल सकती। इसलिए सम्पूर्ण सिद्धियों का एक मात्र मूल मन्त्र है स्वाध्याय, आत्मनिरीक्षण।

आत्म निरीक्षण में अपनी शक्ति का निरीक्षण और अपने कर्म का निरीक्षण किया जाता है। शक्ति अनुसार कर्म करने में ही सफलता मिलती है। कौन सी शक्ति किस कर्म की सफलता में सहायक हो सकती है यह बिना ज्ञान हुए भी सफलता नहीं मिलती। ज्ञान का साधन भी स्वाध्याय ही है। इसी कारण ज्ञान हो और प्रमाद से वह विस्मृत होगया हो तब भी स्वाध्याय की आवश्यकता है। अप्रमत्त होकर जिस कार्य को किया जाता है, सम्पूर्ण शक्ति जिस कार्य में लगी रहती है, उसकी सिद्धि में किंचित भी

सन्देह नहीं करना चाहिए इसीलिए पहिलौकिक और पारलौकिक दोनों स्थानों की सिद्धि के लिए, आत्मकल्याण के लिए निरन्तर स्वाध्याय की आवश्यकता है। निरन्तर स्वाध्याय न करने से शरीर में मन तथा बुद्धि में एवं प्राणों में भी जड़ता स्थान बना लेती है, मनुष्य प्रमादी हो जाता है। प्रमाद मानव का सबसे बड़ा शत्रु है यह उसे बीच में ही रोक लेता है. सिद्धि क पहुंचने ही नहीं देता। इसीलिए आर्यऋषियों कहा है—

स्वाध्यायान्माप्रमदः—स्वाध्याय में प्रमाद करो और अहरहः स्वाध्यायमध्येतव्यः—रात दि स्वाध्याय में लगे रहो।

---

# ईश्वर और आत्मा की विवेचना।

( श्री० अलेश्वरप्रसादजी, बथना। )

---

किसी ने ईश्वर को देखा नहीं है फिर भी संसार में उसके मानने वाले ही अधिक हैं। जिसको किसी ने कभी आंखों से देखा न हो, उसके मानने वाले यदि संसार में एक भी न हो तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं, लेकिन आश्चर्य तो यह है कि उसके मानने वाले ही अधिक हैं। कैसा आश्चर्य है कि मनुष्य जब आपत्ति में पड़ता है, जब अपने को निःसहाय अनुभव करता है, कोई सहारा नहीं रह जाता, तब वह उसी प्रभु को याद करता है जिसे आज तक किसी ने आंखों से नहीं देखा। अनायास उसके मुख से निकल जाता है कि हे- भगवन् मुझ पर दया कर। दुनिया से ठुकराये हुओं को एक मात्र वही सहारा रह जाता है। मनुष्य उसे अशरणों का शरण तथा अनाथों का नाथ कहता है।

हवा सूक्ष्म है तथा हवा से भी अधिक सूक्ष्म आकाश तत्व है। हवा सर्वत्र है परन्तु आकाश तत्व हवा से भी अधिक सूक्ष्म होने के कारण, जहां हवा है वहां भी ( हवा में होकर ) है तथा जहाँ हवा का गमन नहीं है वहां भी विद्यमान है। आकाश तत्व अतीव सूक्ष्म होने के कारण सर्वत्र है। तथा आकाश तत्व से भी अधिक सूक्ष्म रूप में ईश्वर सारे ब्रह्माण्ड में फैला है। सारे ब्रह्माण्ड के अन्दर सूई के नोक बराबर जगह भी ऐसा नहीं है जहां ईश्वर अपने पूर्ण चैतन्यता की हालत में विद्यमान नहीं है। जैसे सर्वत्र विचरता हुआ महान वायु नित्य आका में विद्यमान है वैसे सारे प्राणी उस ब्रह्म में है वह ईश्वर ही परम ब्रह्म अर्थात् सबका मूल है उसी एक मूल ब्रह्म से सब कुछ पैदा हुआ अर्थात् सृष्टि हुई है, और सब कुछ फिर उस में विलीन हो जाता है। जैसे समुद्र से लह पैदा होती हैं और फिर उसी में विलीन हो जा हैं, जैसे मकड़ा अपने ही से अपना जाल पैद करता है और फिर अपने ही में समेट लेता है जैसे पृथ्वी से घास पैदा होते हैं, शरीर से जैसे बालों की उत्पत्ति होती है वैसे ही यह संसा उस अविनाशी एक ब्रह्म से पैदा हुआ है। जैसे धधकते अग्नि से उसी के रूप की या स्वभा की सहस्रों चिनगारियां उत्पन्न होती हैं औ फिर उसी में लुप्त हो जाती हैं तथैव उस ब्रह्म से प्राणी पैदा होते हैं और फिर उसी में विली हो जाते हैं।

जो कुछ भी दृश्य तथा अदृश्य है सब उस ब्रह्म का ही व्यक्तरूप है। इस दृश्य जगत से प दूसरा अदृश्य जगत है तथा उस अदृश्य जगत से भी परे दूसरा सनातन अव्यक्त भाव है ज अक्षर ब्रह्म है। जगत की उत्पति का कारण य मूल वही ब्रह्म है। गीता के पन्द्रहवें अध्याय में इस संसार को एक वृक्ष रूप में वर्णन किया जिसका मूल ऊँचे अर्थात् ईश्वर है, वह मू ईश्वर अपने ही से इस संसार को पैदा किया

अर्थात् वह सब कुछ है और सबमें है तथा सब कुछ ईश्वर में है और सब कुछ ईश्वर मय है। जो कुछ भी अव्यक्त या व्यक्त है सब उसी एक मूल ब्रह्म का व्यक्तिकारण है अथवा सब कुछ ब्रह्म ही है। ब्रह्म ने अपनी इच्छा से इस सृष्टि को प्रकट किया है और अपनी इच्छा से सबको अपने में समेट लेता है। यह सृष्टि उस ब्रह्म के "इच्छा" का फलस्वरूप अथवा उसकी माया है।

जैसे माता गर्भ में बच्चे को धारण किये रहती है उसी तरह उस ब्रह्म ने इस सारे ब्रह्माण्ड में फैल कर इसको धारण किया है। ब्रह्म और सृष्टि दो नहीं अपितु ब्रह्म ही सृष्टि के रूप में है। उस ब्रह्म से आगे कुछ नहीं है। ब्रह्म ही परम गति है ब्रह्म ही परमधाम है। भूत वर्तमान और भविष्य सब उस ब्रह्म के अन्दर है। ब्रह्म तर्क से सिद्ध नहीं किया जा सकता इस लिये नहीं कि वह तर्क से परे है प्रत्युत इसलिये कि वह मूल ( *Basis* ) है जहां से तर्क पैदा होते हैं। वह महान ब्रह्म, जिसके अन्दर सारा जगत विद्यमान है, सबके हृदयों में छिपा है। जो कुछ भी है सब ब्रह्म ही है अथवा मैं भी ब्रह्म हूं, ब्रह्म का हूं और ब्रह्म मेरा है। मैं स्वयम् ब्रह्म हूं। जिस तरह एक ही सूर्य का प्रतिबिम्ब अगणित कुओं में पड़ता है और हर कुएं में अलग २ सूर्य दीखता है परन्तु वास्तव में सूर्य एक ही है, उसी तरह एक ही ब्रह्म ( महान आत्मा ) अनगिनत व्यक्तित्वों में प्रतिबिम्बित होकर अनेकों दीखता है परन्तु वास्तव में मूल में ही और वास्तव में एक ही ब्रह्म है, वह पृथकत्व या भिन्नता जो दीखती है वह सब माया है और हमारी भूल है। हम सब अपने २ व्यक्तित्व में एकदम डूबे हुए हैं अथवा अपने २ व्यक्तित्व को दृढ़ता पूर्वक पकड़े हुए हैं। इस व्यक्तित्व को छोड़कर यदि आत्मलीन होने का प्रयास हम करें तो अपने आत्मा तक जो कि ब्रह्म के साथ एक है पहुंच जांय।

हमारे लिये उस ब्रह्म के होने का सबसे बढ़ कर सबूत हमारी आत्माएं हैं। जिस ब्रह्म के अन्दर सारा ब्रह्माण्ड है वह ब्रह्म हम सबके अन्दर आत्मा के रूप में छिपा है। जब हम अपने व्यक्तित्व को छोड़ कर अपने आत्मा तक पहुंच जाते हैं तब ब्रह्मत्व को प्राप्त कर लेते हैं। हम अपने व्यक्तित्व में अपने को भूले हुये हैं।

न देखने पर भी उस ईश्वर के तरफ, उस ब्रह्म की तरफ, हमारा जो खिंचाव है वह उसी एकरूपता के कारण है। अपने आत्मा में लीन होना उस ब्रह्म में लीन होना है तथा उस ब्रह्म में लीन होना अपने आत्मा में लीन होना है क्यों कि हम और ब्रह्म तो एक है। वह ब्रह्म आत्मा के इस महायात्रा से लौट कर पहुंचने का केन्द्र है, परमधाम है। उस केन्द्र तक पहुंचने के लिये बार बार उस ब्रह्म को प्रेम के साथ याद करना चाहिये। बाहर से मुड़ कर उस ब्रह्म में लीन होने का प्रयास करना चाहिये।

---

# योग द्वारा ही समाज का संगठन होगा।

( योगिराज श्री० अरविन्द )

---

आत्मा को बिना जाने या बिना पाये, जो नवीन समाज गठन का स्वप्न देखा जारहा है, वह सफल नहीं होगा। आत्मा को लेकर ही मानव जीवन है। जीवन के परदे के भीतर सत्य वस्तु छिप गई है। ज्ञान का विकास होने पर ही आत्मलाभ होगा। इसके लिए शिक्षा की आवश्यकता है और वह शिक्षा योग के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।

बुद्धि मानव जीवन का श्रेष्ठ तत्व है, इसी बुद्धि द्वारा देह राज्य पैदा होता और उसका काम

चलता है, बुद्धि ने अन्तरात्माओं को ढँक रखा है, उसे समेटना होगा तभी ज्ञान-सूर्य की किरणों के प्रभाव से देहराज्य का नवीनरूप उत्पन्न होगा। बुद्धियोग-सिद्धि के लिए परम विघ्न है। लेकिन बुद्धि की स्फुरणा के बिना योग सिद्धि की आशा भी नहीं की जाती। बुद्धि अपने पुराने संस्कार से किसी नवीन वस्तु का ग्रहण करने में देर तो करती है लेकिन एक बार किसी भी चीज को ग्रहण कर लेने के बाद फिर उसके किसी काल में भी पतन की संभावना नहीं रह जाती।

हर एक मनुष्य के जीवन को सार्थकता से परिपूर्ण करना ही योग का उद्देश्य है। वासनायें ही योग के विघ्न हैं। इसलिए साधना की आवस्था में सारी वासनायें छोड़कर चलना पड़ता है। यह साधना की आरंभिक अवस्था है। इसे संयम कहते हैं। लेकिन संयम का अर्थ निग्रह या बन्ध नहीं है। वासना की तरंगों के आघातों से मन विचलित न हो जाय इसके लिए तपस्या करना ही संयम कहलाता है। चित्त के स्थिर हो जाने पर वासनाओं की जगह भगवान की इच्छा का ही उदय हो जाता है, सिद्धावस्था में वासना और चेष्टा का एकदम नाश हो जाता है, अपने आप ही शुद्ध कर्म प्रकट होता है।

साधनावस्था में साधकों को सहनशील होकर रहना आवश्यक होता है। आसक्ति का त्याग करना पड़ता है। आसक्ति का अर्थ भोग नहीं है। आसक्ति के कारण ही मनुष्य के कर्म-संस्कार सृष्टि के कारण होते हैं। जो लोग बुद्धि के साथ भगवान की इच्छा का मिलान कर लेते हैं वे आसक्ति को पार कर लेते हैं। फिर वह जीवन, सिद्ध जीवन में बदलना आरम्भ हो जाता है। सिद्ध जीवन और कुछ नहीं है भगवान के साथ योग युक्त होकर उन्हीं की प्रीति के लिए सब काम करना ही सिद्ध जीवन है।

योग के पथ पर अग्रसर होने से जो समृद्धि और सम्पत्ति उत्पन्न होगी, उसी का बाहरी रूप साम्राज्य है। अपने को जान लेने या पा जाने के बाद वास्तविक स्वराज्य प्राप्त होता है और स्वराज्य प्राप्त होने के बाद ही साम्राज्य की रचना होती है। उसीसे नवीन समाज की रचना होती है।

---

# कर्मवीरो ! कर्तव्य कर्म करते रहो।

( लोकमान्य-तिलक )

कर्म शब्द 'कृ' धातु से बना है, उसका अर्थ 'करना' व्यापार, हलचल होता है। किसी भी धर्म को ले लीजिये उसमें ईश्वर प्राप्ति के लिए कुछ न कुछ कर्म करने को बतलाया ही रहता है प्राचीन वैदिक धर्म के अनुसार देखा जाय तो यज्ञ-भाग ही वह कर्म है जिससे ईश्वर की प्राप्ति होती है। वैदिक ग्रन्थों में यज्ञ-भाग की विधि बतलाई गई है परन्तु इसके विषय में कहीं कहीं परस्पर विरोधी वचन भी पाये जाते हैं, अतएव उनकी एकता और मेल दिखलाने के लिए ही जैमिनि के पूर्व मीमांसा शास्त्र का प्रचार होने लगा। जैमिनि के मतानुसार वैदिक और श्रौत यज्ञभाग करना ही प्रधान और प्राचीन धर्म है। मनुष्य कुछ करता है वह सब यज्ञ के लिए करता है। यदि उसे धन कामना है तो यज्ञ के लिए और धान्य संग्रह करना है तो यज्ञ ही के लिए ( म. भा. शा. २६. २७ ) जब कि यज्ञ करने की आज्ञा वेदों ने ही दी है, तब यज्ञ के लिए मनुष्य कुछ भी कर्म करे, वह उसको बंधन कभी नहीं होगा वह कर्म यज्ञ का एक साधन है, वह स्व-तन्त्र रीति से साध्य वस्तु नहीं है। इसलिए, यज्ञ से जो फल मिलने वाला है उसी में उस

कर्म का भी समावेश हो जाता है। उस कर्म का कोई अलग फल नहीं होता। परन्तु यज्ञ के लिए किये गये ये कर्म यद्यपि स्वतन्त्र फल के देने वाले नहीं हैं, तथापि स्वयं यज्ञ से स्वर्ग प्राप्ति (सुख प्राप्ति) होती है और इस स्वर्ग प्राप्ति के लिए ही यज्ञ कर्त्ता मनुष्य बड़े चाव से कर्म कर्त्ता है। इसीसे स्वयं यज्ञकर्म पुरुषार्थ कहलाता है, क्यों कि जिस वस्तु पर किसी मनुष्य की प्रीति होती है, और जिसे पाने की उसके मनमें इच्छा होती है उसे पुरुषार्थ कहते हैं (जै. सू. ४.१.१-२)। यज्ञ का पर्यायवाची एक दूसरा शब्द 'क्रतु' है इसलिए यज्ञार्थ के बदले क्रत्वर्थ भी कहा करते हैं। इस प्रकार सब कार्मों के दो वर्ग होगये। एक यज्ञार्थ (क्रत्वर्थ) कर्म अर्थात् जो स्वतन्त्र रीति से फल नहीं देते अतएव अबंधक है, और दूसरे पुरुषार्थ कर्म, अर्थात् जो पुरुष को लाभ कारी होने के कारण बन्धक है, इन कर्मवादियों, याज्ञिकों का कहना है कि वेदोक्त यज्ञ-भाग आदि कर्म करने से ही स्वर्ग प्राप्ति होती है, नहीं तो नहीं होती। चाहे ये यज्ञ भाग अज्ञानता से किये जांय या ब्रह्मज्ञान से। यद्यपि उपनिषदों में ये यज्ञ ग्राह्य माने गये हैं तथापि इनकी योग्यता ब्रह्मज्ञान से कम ठहराई गई है। इसलिए निश्चय किया गया है कि यज्ञ भाग से स्वर्ग प्राप्ति भले ही होजाय, परन्तु इनके द्वारा मोक्ष नहीं मिल सकता, मोक्ष प्राप्ति के लिए ब्रह्मज्ञान की ही नितान्त आवश्यकता है। इस यज्ञयाग आदि वैदिक कर्मों के अतिरिक्त और भी चातुर्वर्ण्य के भेदानुसार दूसरे आवश्यक कर्म मनुस्मृति आदि धर्मग्रन्थों में वर्णित है, जैसे क्षत्रिय के लिए युद्ध, वैश्य के लिए वाणिज्य। इन कर्मों के सिवाय और भी धार्मिक कर्म हैं जैसे व्रत, उपवास आदि। इन सब कर्मों के और भी तीन-नित्य, नैमित्तिक और काम्यभेद किये गये हैं। स्नान, सन्ध्या आदि जो हमेशा किये जाने वाले कर्म हैं उन्हें नित्यकर्म कहते हैं। इनके करने से कुछ विशेष फल अथवा अर्थ की सिद्धि नहीं होती परन्तु न करने से दोष अवश्य लगता है। नैमित्तिक कर्म उन्हें कहते हैं जिन्हें पहले किसी कारण के उपस्थित होजाने पर करना पड़ता है जैसे अनिष्टग्रहों की शान्ति, प्रायश्चित्त आदि। जिसके लिए हम शान्ति या प्रायश्चित्त करते हैं वह निमित्त कारण यदि पहले न होगया हो तो हमें नैमित्तिक कर्म करने की कोई आवश्यकता नहीं। जब हम कुछ विशेष इच्छा रखकर उसकी सफलता के लिए शास्त्रानुसार कोई कर्म करते हैं तो उसे काम्य कर्म कहते हैं। जैसे वर्षा या पुत्र प्राप्ति के लिए यज्ञ करना।

नित्य, नैमित्तिक और काम्य कर्मों के सिवाय भी कर्म हैं जैसे मदिरा पान इत्यादि, जिन्हें शास्त्रों ने त्याज्य कहा है, इसलिए ये कर्म निषिद्ध कहलाते हैं। भगवद्गीता की दृष्टि इससे व्यापक है। मान लीजिए कि अमुक एक कर्म, शास्त्रों में निषिद्ध नहीं माना गया है अथवा वह विहित कर्म ही कहा गया है तो इतने ही से यह सिद्ध नहीं होता कि हमें वह कर्म हमेशा करते ही रहना चाहिए अथवा उस कर्म का करना हमेशा श्रेयस्कर ही होगा, गीता के अनुसार मनुष्य जो कुछ करता है जैसे खाना, पीना, खेलना, रहना, उठना बैठना, श्वासोच्छ्वास करना, हँसना, रोना, सूँघना, देखना, बोलना सुनना, चलना, देना-लेना, सोना, जागना, मारना, लड़ना, मनन और ध्यान करना, आज्ञा और निषेध करना, दान देना, यज्ञ-याग करना, खेती और व्यापार करना, इच्छा करना, निश्चय करना, चुप रहना इत्यादि ये सब कर्म ही हैं चाहे वे कर्म कायिक हों, वाचिक हों, अथवा मानसिक हों (गीता ५-८) और तो क्या जीना मरना भी कर्म ही है। मौका आने पर यह भी विचार करना पड़ता है कि जीना या मरना इन दो कर्मों में से किसको स्वीकार किया जावे। इस विचार के उपस्थित होने पर कर्म शब्द का अर्थ कर्त्तव्य कर्म अथवा विहित कर्म होजाता है। ऐसे विहित कर्म मनुष्य को सदा ही करते रहने चाहिए। ——

# दुःख से हमारा असीम उपकार होता है।

( साधु वेष में एक पथिक )

दुःख की अत्यन्त अद्भुत महिमा है। प्रायः मनुष्य दुःखों से डरते हैं, पर यह नहीं जानते कि इस संसार में यदि कोई आया तो सुख की माया में मुग्ध होकर ही आया और यहां जो कोई बन्धन से जकड़ा गया तो सुख की मादकता में मतवाला होकर ही जकड़ा गया, साथ ही यहां जो भी बन्धन से छूटा वह दुःखों की ही कृपा से छूट सका।

इस जगत की छद्मवेशी आकृति प्रकृति का यदि किसी को ज्ञान हुआ, तो दुःख की ही दया से ज्ञान हुआ। पापी से कोई धर्मात्मा बना तो दुःख ही के शुभ मुहूर्त से उसने यात्रा की। अज्ञान अन्धकार से यदि कोई ज्ञान प्रकाश की ओर वापस हुआ तो दुःख ने ही उसे लौटने का बल दिया।

दुःख की तो विशेषता ही यह है कि वह जीवन को शुद्ध करने आता है, विनाशपथ में जाने वाले पथिकों को अमृत का मार्ग बताने आता है, अन्धकार में भूले हुओं को प्रकाश का ज्ञान कराने आता है। यह दुःख ही तो अधर्मी को धर्म की ओर, रागी को त्याग की ओर, द्वेषी को प्रेम की ओर, स्वार्थी को परमार्थ की ओर प्रेरित करने और पथ प्रदर्शन करने आता है।

बुद्धिमान् पुरुष जब दुःख से होने वाले महत लाभ को समझ लेते हैं, तब वे दुःख के आते ही सावधान होकर अपने दोषों का गहराई से निरीक्षण करते हैं। क्योंकि वे जानते हैं कि दोषों के हुए बिना दुःख आ ही नहीं सकता। दोषों की उत्पत्ति सुख के लोभवश होती है, और संसार में सुख का लोभ अज्ञानवश ही होता है।

यह अज्ञान दूर होता है ज्ञान से और ज्ञान की प्राप्ति विचार करने पर ही होती है, वह विचार की दृष्टि दुःख की दया से खुलती है।

दुःख सुख दोनों संसार की वस्तुएँ हैं पर दुःख मनुष्य को संसार के प्रत्येक बन्धन से छु[illegible] करने का द्वार खोलता है जब कि सुख प्रा[illegible] को संसार में सभी प्रकार से बांधता रहता है।

सुख से भोग में और दुःख से योग में प्रवृ[illegible] होती है। जहां यह सुख मनुष्य को विविध वैभ[illegible] ऐश्वर्य में मन्दोन्मत्त बनाता है, जहां यह ऐ[illegible] बल-विभूतिसम्पन्न जनों को अभिमानी [illegible] कठोर बनाकर, झूठे परिवर्तनशील पदार्थों [illegible] स्वामित्व का भोगी बनाकर, रोगी और शक्तिह[illegible] कर देता है, वहीं पर दुःख हर एक अभिमा[illegible] तथा मदोन्मत्त मानव के ऐश्वर्य, वैभव और [illegible] को अपने आघात से चूर्ण करते हुए उसे सर[illegible] एवं विनम्र बनाता है।

भयानक से भयानक पशु-प्रकृति-प्रधान मनु[illegible] के सुधार का शुभ मुहूर्त इस दुःख के द्वारा [illegible] सत्वर प्राप्त हो जाता है। आलसी प्रमादी [illegible] कर्तव्यपरायण, कंजूस को दानी, क्रोधी को दया[illegible] क्षमाशील और कठोर को नम्र बनाने वाला [illegible] दुःख ही है।

जब मनुष्य के अज्ञानजनित दोषों को शक्ति[illegible] मान् का भय नहीं दूर कर सकता, जब [illegible] सन्त-सद्गुरुदेव अपने उपदेश से भी नहीं मिट[illegible] पाते, जब दोषों की अधिकता में वेद, शास्त्र, श्रुति[illegible] स्मृति की भी कुछ नहीं चलती, तब वहीं [illegible] परमशक्ति की विलक्षण लीला से एकमात्र दुः[illegible] को ही सफलता प्राप्त होती है, जो दोषों [illegible] खोते हुए कभी थकता ही नहीं। अन्ततः दुः[illegible] की ही विजय होती है।

जिन दोषों के कारण दुःख का दर्शन हो[illegible] है, उन दोषों को जब तक दुःखी अपने हृदय म[illegible]

ेख पाती, तब तक दुःख के आने पर प्रायः वह दूसरों पर ही दोषारोपण करते हुए, दूसरों को ही अपने दुःख का कारण ठहराता है और स्वयं दुःखी होते हुए अपने समीपवर्तियों के पास भी दुःख भेजता रहता है। इस प्रकार एक दोष के दुख से मुक्त न होते हुए नये दोषों को पहले दोष के द्वारा बढ़ाता रहता है। दुःख अज्ञानजनित दोषों को ही खाने आता है फिर भी यह न जानने के कारण दुखी मनुष्य उसी दुःख को अपना काम पूरा नहीं करने देता, सुख की चाहना में जहाँ तक उपाय काम देते हैं वहां तक दुःख को दूर भगाता रहता है। इसी कारण दोषों के द्वारा दोषों की ही सृष्टि बढ़ती है, पुनः नवीन नवीन दोषों को मिटाने के लिये दुःख का बार बार आगमन होता रहता है, क्योंकि दोष ही तो दुःख की खुराक है।

दुखी को दुःखों से न डर कर दोषों से डरना चाहिये। दुःखों को हटाने की चेष्टा न करके दोषों को मिटाना चाहिए। जहाँ दोष न रहेंगे वहां दुःख कदापि न आयेगा। दोषों पर ध्यान न देना तथा दुःखों से डरना और सुखों के पीछे पागलवत् दौड़ना दुखी की अज्ञानजनित भयानक भूल है।

दुखी होकर दुःखों से मुक्त होने का उपाय करने वाले व्यक्ति वस्तुतः विचारवान हैं। उन्हें फिर संसार बन्धन का भय नहीं होता। लेकिन अज्ञानी जन दुःखी होकर पुनः उसी सुख-प्राप्ति की इच्छा से संसार की ही शरण लेते रहते हैं, जिस सुख के कारण ही वे दोषी बने हैं और दुःखी हैं।

संसार से मिलने वाले सुख के लिये अज्ञानी मनुष्य इतने दरिद्र होते हैं कि परस्पर अपने ही समान दूसरे प्राणियों को सुख के लोभवश अनेकानेक दुःख देते रहते हैं। परन्तु परिणाम यह होता है कि अपने ही दिये हुए दुःख के प्रत्यावर्तन से अधिकाधिक दुःख के भार से दबते ही जाते हैं।

कोई भी मनुष्य दोषों का अन्त किये बिना दुःख से रहित नहीं हो पाते। अपने दोषों को जानना और उन्हें दूर करना सौभाग्यवान पुरुषार्थी का ही काम है।

---

# कुटुम्ब के प्रति अपने कर्तव्य को न भूलिए।

कुटुम्ब हृदय की जन्मभूमि है। कुटुम्ब एक देवता है जो सहानुभूति, समवेदना, मधुरता और प्रेम का गुप्त प्रभाव अपने में रखता है। जिस देवता के प्रभाव से हमें अपने कर्त्तव्य बहुत या भारी और अपने कष्ट तीक्ष्ण और कटु मालुम नहीं होते। मनुष्य को इस पृथिवी पर जो सच्चा और अकृत्रिम सौख्य और दुःख से असंयुक्त सुख प्राप्त हो सकता है, वह कुटुम्ब का सुख है।

कुटुम्ब की यह देवता स्त्री है, सम्बन्ध में वह चाहे माता हो या पत्नी या भगिनी। निःसन्देह स्त्री जीवन का आधार है। यह प्रेम की वह मीठी चासनी है जो जीवन के रससे सींचीगई है और उसको सुस्वादु बनाती है। यह उस अलौकिक प्रेम का, जो ईश्वरीय प्रेम कहलाता है, संसार में एक मूर्तिमानचिह्न खींचा गया है। स्त्री जाति को परमात्मा ने उन स्निग्ध तत्वों से बनाया है जिनमें चिन्ता की जलधारा और शोक का प्रलेप ठहर ही नहीं सकते। इसके अतिरिक्त स्त्री जाति के ही प्रताप से हम अपना भविष्य बनाते हैं। बालक प्रेम का पहला पाठ अपनी माता के चुम्बन से सीखता है।

कुटुम्ब की कल्पना मानुषी कल्पना नहीं है, किन्तु ईश्वरीय रचना है और कोई मानुषी शक्ति इसको मिटा नहीं सकती। जन्म भूमि के समान

किन्तु उससे भी बढ़कर कुटुम्ब हमारी सत्ता का एक मुख्य अंग है।

यदि तुम कुटुम्ब को स्वर्ग बनाना चाहते हो तो इसकी अधिष्ठात्री देवी स्त्री जाति का आदर करो और उनको गृहदेवी समझ कर पूजा करो। उनको केवल अपने बनावटी सुख और तुच्छ वासना पूर्ति का उपकरण न समझो, किन्तु वे एक दैवी शक्ति हैं, जो ईश्वर की सृष्टि को सुन्दर और मनोरम बनाने वाली और तुम्हारे मस्तिष्क व हृदय को बल पहुंचाने वाली हैं। स्त्रियों पर प्रभुता रखने का यदि कोई कुसंस्कार तुम्हारे मस्तिष्क में समाया हुआ है, तो उसे निकाल दो।

हम पुरुष स्त्रियों के साथ बड़ा अनुचित और उद्दण्ड वर्त्ताव करते आये हैं और इस समय तक कर रहे हैं। हमें इस अपराध की छाया से भी दूर रहना चाहिए क्यों कि ईश्वर के समीप कोई अपराध इससे अधिक उग्र नहीं है, यह मानव जाति के एक कुटुम्ब को दो भागों में विभक्त करके एक भाग पर दूसरे की अधीनता स्थापित करता है।

पिता ईश्वर की दृष्टि में स्त्री पुरुष का कोई भेद नहीं है, इन दोनों से केवल मनुष्य की सत्ता का परिचय मिलता है जिस प्रकार एक वृक्ष मूल से दो शाखायें पृथक् २ फूटती हैं, उसी प्रकार एक मनुष्य जाति की जड़ से स्त्री और पुरुष की दोशाखायें उत्पन्न हुई हैं। किसी प्रकार की विषमता इनमें नहीं है। रुचि और काम में कुछ भेद है सो यह तो पुरुषों में भी प्रायः देखा जाता है।

स्त्री को केवल अपने सुख और दुःख का साथी न समझो, किन्तु अपने मानसिक भावों, हार्दिक अभिलाषाओं, अपने स्वाध्याय गृहस्थ यज्ञ और अपने उस पुरुषार्थ में भी, जो अपनी सामाजिक उन्नति के लिए तुम करते हो, उसको अपने बराबर की साथिनी और सहचरी समझो। उसको न केवल गार्हस्थ्य जीवन व सामाजिक जीवन में किन्तु जातीय जीवन में भी अपनी सदा सहचरी और विश्वस्त मन्त्रिणी समझो। तुम दोनों मनुष्य रूप पक्षी के दो पर बन जाओ जिनके द्वारा आत्मा उस निर्दिष्ट स्थान पर पहुंच सके, जो हमारा भाग्य या प्रारब्ध कहा जाता है।

ईश्वर ने जो सन्तान तुमको दी है, उनसे प्यार करो, पर वह तुम्हारा प्रेम सच्चा और गहरा होना चाहिए। वह अनुचित लाड़ या झूंठा स्नेह न हो जो तुम्हारी स्वार्थ परता और मूर्खता से उत्पन्न होता है और उनके जीवन को नष्ट करता है। तुम कभी इस बात को न भूलो कि तुम्हारे इन वर्त्तमान सन्तानों के रूप में आने वाली प्रजायें तुम्हारी अधीनता में हैं, इसलिए इनके प्रति अपने उस कर्त्तव्य का जो ईश्वर ने तुमको सौंपा है और जिसके तुम सबसे अधिक उत्तर दाता हो, पालन करो। तुम अपनी सन्तानों को केवल जीवन के सुख और इच्छापूर्ति की शिक्षा न दो। किन्तु उनको धार्मिक जीवन, सदाचार और कर्त्तव्य पालन की भी शिक्षा दो। इस स्वार्थमय समय में ऐसे माता पिता विशेषतः धनवानों में विरले ही मिलेंगे, जो सन्तान की शिक्षा के भार को, जो उनके ऊपर है, ठीक ठीव परिमाण में तौल सकें।

तुम जैसे हो वैसी ही तुम्हारी सन्तानें भी होंगी, वे उतनी ही अच्छी या बुरी होंगी, जितने तुम आप अच्छे या बुरे हो। जब कि तुम अपने भाइयों के प्रति दयालु और उदार नहीं हो, तो उनसे क्या आशा कर सकते हो कि वे उनके प्रति प्रेम और उदारता दिखलायेंगे। वे किस प्रकार अपनी विषय वासना और बुरी इच्छाओं को रोक सकेंगे, जब कि रात दिन तुमको विषय लोलुप और कामुक देखते हैं। वे किस प्रकार अपनी प्राकृतिक पवित्रता को स्थिर रख सकेंगे जब कि तुम अपने अश्लील और निर्लज्ज व्यवहारों से उनकी लज्जा को तोड़ने में संकोच नहीं करते। तुम कठोर सांचे हो जिनमें उनकी मुलायम प्रकृति ढाली जाती है। इसलिए यह तुम पर निर्भर है कि तुम्हारी सन्तान मनुष्य हों या मनुष्याकृति वाले-पशु।

———

# स्वच्छता एक अमूल्य अध्यात्मिक गुण है।

( श्री द्वारिकाप्रसाद कटरहा B. A. दमोह )

रोम के प्रसिद्ध महात्मा एपिक्टेरस युवकों को सदा यही उपदेश दिया करते थे कि स्वच्छता पूर्वक रहो और सुन्दर बनो। वे वाह्य वस्तुओं की स्वच्छता और सौंदर्य पर विशेष ध्यान देते थे और कहा करते थे कि जो युवक सदा स्वच्छता-पूर्वक रहता है, साफ सुथरे कपड़े पहिनता है, अपने बालों को अच्छी तरह धोता और ठीक तरह से संवारता है अपने व्यवहार की वस्तुओं को शुद्ध और स्वच्छ रखने का ध्यान रखता है वह जैसे तैसे कपड़े पहिनने वाले तथा उलझे हुए बालों वाले युवक की अपेक्षा तत्व ज्ञान शीघ्र ही प्राप्त कर लेगा। वे समझते थे कि जब कि एक साफ सुथरे युवक ने अध्यात्म ज्ञान के प्रवेश द्वार पर पदार्पण कर लिया है एक मैले कुचेले रहने वाले युवक ने तत्व ज्ञान का प्रारम्भिक पाठ भी नहीं सीखा है। वे सुन्दर और शिष्ट नवयुवक की खूब प्रशंसा किया करते थे और कहते थे कि जिसने वाह्य जीवन में सुन्दरता का पाठ सीखा है वही व्यक्ति आगे चलकर वाह्य सौंदर्य से भी श्रेष्ठतर सौंदर्य की खोज में अग्रसर होगा और वही व्यक्ति आन्तरिक सौंदर्य की श्रेष्ठता से शीघ्र ही आकर्षित होकर उसे प्राप्त करने के लिए उत्सुकता पूर्ण प्रयत्न करेगा।

महात्मा एपिक्टेरस की इस शिक्षा का, शरीर के प्रति अशुभ भावना रखने की शिक्षा देने वाले अन्य महात्मा पुरुषों की शिक्षाओं से मिलान करने पर तो मोटे तौर पर यही कहा जायगा कि उनकी इस शिक्षा से विलासिता को प्रोत्साहन मिलेगा और लोगों में पाप प्रवृत्ति बढ़ेगी। पर वास्तव में बात ऐसी नहीं है। स्वच्छता-पूर्ण वातावरण में रहने का प्रयत्न ही मनुष्य को पुरुषार्थ में प्रवृत कराता है। कोई भी मनुष्य आलस्य को अच्छी तरह त्यागे बिना स्वच्छता-पूर्वक नहीं रह सकता अतः इस प्रयत्न का स्वाभाविक परिणाम आलस्य विजय होता है। प्रकृति का उद्देश्य है कि मनुष्य कम से कम अपनी शरीर-रक्षा के लिए तो परिश्रम करना सीखे। इस तरह प्रकृति मनुष्य को पुरुषार्थी बनाकर तत्व ज्ञान का पहिला पाठ पढ़ाती है। जो मनुष्य इस तरह भौतिक आवश्यकताओं के प्रति पुरुषार्थी हो जाता है वही आगे चलकर आत्म-शुद्धि के लिए पुरुषार्थ करने वाला और देवोपम गुणों को प्राप्त करने वाला हो सकता है। शायद इसी लिये अंग्रेजों में एक उक्ति प्रचलित है कि "स्वच्छता दिव्यत्व के अत्यन्त समीप है" हमें सदा स्मरण रखना चाहिए कि गंदगी से रहना लक्ष्मी का अपमान है क्योंकि वह गंदगी से सदा दूर दूर भागती है।

गंदगी का अर्थ आलस्य और लापरवाही है। बहुत से लोगों के गंदगी से रहने की प्रधान कारण स्वच्छता से रहने के लिए द्रव्य आदि साधनों की कमी नहीं है। बल्कि इसका कारण अधिकतर उनकी लापरवाही ही है। कोई कोई लोग कहते हैं कि क्या करें हम काम में इतने अधिक व्यस्त रहते हैं कि हमें इन छोटी छोटी सी बातों पर ध्यान न देने के लिए बहुत ही कम अवकाश मिलता है किंतु हम समझते हैं कि यदि हम स्वच्छता का महत्व समझ कर उसके लिए अधिक उत्सुक और प्रयत्न शील हों तो हम उतने ही समय में पहिले से अधिक स्वच्छता पूर्वक रह सकते हैं। यदि हम इस कार्य में मनो-रंजन का अनुभव करने लगें तो हम अपने मनो-रंजन का कुछ समय भी एतदर्थ दे सकते हैं। यदि आपमें अपने व्यवहार की वस्तुओं को फेंककर जहां चाहे वहीं पटक कर रख देने की और कपड़ों को जैसे चाहे वैसे उतार कर रख

देने की आदत नहीं है और यदि आप घर में एक कमरे से दूसरे कमरे को आते जाते समय रास्ते में पड़ी हुई चीजों को ठिकाने से रख सकते हैं, यदि आप अपनी किताबें कुर्सी आदि को यथा स्थान जमा कर रख सकते हैं, यदि आप अपने कपड़ों को व्यवस्था पूर्वक घड़ी लगाकर रख सकते हैं और यदि आप अपने जूतों को भी सुडौलपन का ध्यान रखते हुए ठीक तरह से उतार कर रख सकते हैं तो निश्चय ही आप अपने घर को काफी स्वच्छ और सुन्दर बनाने में सहायता पहुंचा सकेंगे।

लोग बहुधा समझते हैं कि यदि उनके पास अधिक कपड़े हो जावें तो फिर वे सफाई से रह सकेंगे। संभव है उनकी धारणा ठीक हो किंतु यदि बेइन्तजामी के कारण उनके वस्त्रों में सफाई की कमी है तो जान लीजिए कि कपड़ों के बढ़ा लेने से वस्तु स्थिति में कोई विशेष परिवर्तन न होगा। जो दो कपड़ों को संभाल कर नहीं रख सकते वे दस कपड़ों की संभाल क्या करेंगे?

कुछ व्यक्ति ऐसे होते हैं जिन्हें आप कोई वस्तु अच्छी हालत में दे दीजिए तो वे उसे बुरी हालत में लौटावेंगे। यदि वे किसी साफ जगह में भी निवास करें तो कुछ ही दिनों में उसे घिनौनी कर डालेंगे। ये लोग बड़े अभागे हैं और ये जितना अपने वातावरण से लाभ प्राप्त करते हैं उतना उसे देते नहीं। ये वस्तुओं का उपयोग करते तो हैं पर फिर उन्हें उनकी पूर्वावस्था में नहीं लासकते। ये आलसी हैं और मुफ्त में ही सुख लूटना चाहते हैं। ऐसे लोगों को ही दुर्भाग्य का रोना रहता है और सोना छूते ही मिट्टी हो जाता है। अतएव हमें चाहिए कि यदि हमने किसी से कोई वस्तु ली है तो विचार करें कि जब उस व्यक्ति ने हमें कोई वस्तु सहृदयता पूर्वक उपयोग करने के लिए दे दी है तो कृतज्ञता वश हम यदि उस वस्तु को पहिले से अच्छी हालत में नहीं दे सकते तो कम से कम बुरी हालत में भी तो न दें। कई विद्यार्थी तो पुस्तकें मांगकर ले जाते हैं पर उनकी जिल्द तोड़ कर या पन्ने जहां तहां मोड़ कर ले आते हैं। लोग शादी, विवाह के मौके पर बर्तन कपड़े आदि चीजें ले जाते हैं पर उन्हें साफ अवस्था में नहीं लौटाते। दुबारा आवश्यकता पड़ने पर यदि ऐसे लोगों को वस्तुएँ देने से लोग टालमटोल करें तो क्या आश्चर्य।

फूहड़ लोग अपने अड़ोस पड़ोस को बड़ा गंदा रखते हैं। छोटी छोटी बस्तियों में ऐसा देखा जाता है कि स्त्रियां छोटे छोटे बच्चों को नालियों पर या सड़क पर पाखाना करने के लिए बिठा देती हैं किन्तु फिर उन्हें इस बात की चिंता नहीं होती कि उसे तत्काल ही राख इत्यादि वस्तुओं से ढक दें या उठा डालें। घंटों वायु अशुद्ध होती रहती है आने जाने वाले लोगों को घिनौनापन और भिनभिनाहट मालूम होती है परन्तु उन्हें अपने कर्त्तव्य की कुछ परवाह नहीं होती। वे तो शायद समझते हैं कि उस स्थान को गंदा अथवा साफ हालत में रखने का उन्हें पूर्ण अधिकार है और इसमें किसी अन्य व्यक्ति को हस्तक्षेप करने का अधिकार नहीं। इनमें समाज के प्रति कर्त्तव्य-निष्ठा उत्पन्न किये जाने की बहुत आवश्यकता है।

जिन घरों में स्त्रियों की सहायता के लिए बर्तन आदि साफ करने वाले व्यक्ति लगाए जाते हैं बहुधा उन घरों में भी पर्याप्त सफाई नहीं रहती। जब तक कहारिन न आवे बर्तन न धुलेंगे भले ही बर्तन रात भर जूठी ही हालत में रखे रहें। एक बार किसी बर्तन का उपयोग करने पर उसे तुरन्त साफ सुथरी हालत में न रखा जायगा। इसे हम सुकुमारता कहें या आलस्य? सुकरात ने ग्रीस के सर्वोपरि सुन्दर नवयुवक अलकिबाइडीज को सच्चरित्रता और स्वच्छता पूर्वक रहने की प्रेरणा देते हुए कहा 'सुन्दर बनो।' अपने लोगों के लिए हमें भी ऐसी ही प्रेरणा देनी चाहिए।

हेल्थ आफिसर लोग शिकायत करते हैं कि

हरिजन मुहल्ले बहुधा गंदे ही रहते हैं। उसका कारण बढ़ती हुई श्रम के प्रति घृणा, उनकी गरीबी, पूँजीवादी श्रमविभाजन, एवं सफाई के काम को निकृष्ट काम समझा जाना ही समझा जाता है। और इसलिए कांग्रेस के कार्य कर्त्ताओं ने गांवों और हरिजन बस्तियों में जाकर, ग्रामीणों और हरिजनों के सामने सफाई से रहने का एक आदर्श उपस्थित करने का प्रयत्न किया है। किंतु इस दिशा में पर्याप्त सफलता नहीं मिली। इसका कारण उनकी श्रम के प्रति घृणा आदि का होना उतना नहीं है। (क्योंकि इच्छा अथवा अनिच्छा पूर्वक आखिर वे श्रम तो करते ही हैं) जितना कि यह कि उन्हें स्वच्छता की आवश्यकता ही नहीं महसूस होती और गंदगी में बहुत समय तक रह लेने के उपरांत हम उनके अंदर सफाई से रहने का भाव ही उत्पन्न नहीं कर सकते। संसार का प्रत्येक व्यक्ति अपनी समझ के अनुसार स्वच्छतापूर्वक रहने का प्रयत्न करता है और हरिजन लोगों का भी स्वच्छता का एक 'स्टैंडर्ड' है। हम जब कपड़ों को दो तीन रोज पहिनने के उपरान्त उतार कर धोबी को दे दिया करते हैं, तो वैसे ही मैले कपड़े उनकी निगाह में इतने मैले नहीं हो जाते कि चार छः रोज और न पहिने जा सकें। अतएव असली प्रश्न है आर्थिक और उस पर निर्भर स्वच्छता के स्टैंडर्ड का। जब तक हरिजनों में स्वच्छता का 'स्टैंडर्ड' न बढ़ाया जावेगा तब तक हरिजनों और गांवों की सफाई में कोई अन्तर न पड़ेगा।

स्वच्छता के साथ जब व्यवस्था हम सुडौलपन या संतुलन का संयोग कर दिया जाता है तब सुन्दरता की सृष्टि होती है। स्वच्छ किंतु उलझे हुए बालों को जब संवार दिया जाता है तब उनमें सुन्दरता आ जाती है। पौधों में जो सुन्दरता होती है उसका एक कारण पत्तों और पुष्पों का सुडौलपन भी है। यद्यपि प्रकृति में विविधता भी सुन्दरता का कारण है तथापि प्रकृति में सुन्दरता का कारण बहुधा यह सुडौलपन ही होता है। क्या पौधों के पत्तों और पुष्पदलों में, क्या प्राणियों के शरीर में क्या पशु पक्षियों के अंडों में, सर्वत्र यह सुडौलपन ही दृष्टिगोचर होता है। जहां सुडौलपन का अभाव है, वहीं कुरुपता और लंगड़ापन है। अतएव यदि घर की वस्तुओं को रखने में आप सुडौलपन का ध्यान रखेंगे तो निश्चय ही घर की सुन्दरता में वृद्धि होगी।

---

# शक्ति का अपव्यय नहीं—संचय करो।

**( ले० श्री अगरचन्द नाहटा बीकानेर )**

हमारी शक्ति के विकास के तीन द्वार हैं, मन वचन और काया। इन्हीं के द्वारा हम कोई कार्य करने में समर्थ होते हैं, पर हमने अपनी शक्ति को अनेक कामों में बिखेर रखा है, इसीसे हम अपने आपको कमजोर समझते हैं। यह तो मानी हुई बात है कि कोई भी वस्तु चाहे कितनी ही ताकतवर क्यों न हो, टुकड़े कर देने पर जितने टुकड़ोंमें वह विभक्त हुई है शक्ति का बल भी उतने ही अंशों में कम हो जायगा। इसी प्रकार हम अपने मन को अनेक संकल्प-विकल्पों में बांटे रखेंगे तो एक निश्चय पर पहुंचने में कठिनता होगी, किसी भी विषय को गम्भीरता से नहीं सोच सकेंगे उसकी तह तक नहीं पहुंच सकेंगे।

इसी प्रकार वचनशक्ति को व्यर्थ की बकवास या वाचालता में लगाए रखेंगे तो उसका कोई असर नहीं होगा। शक्ति इतनी कमजोर पड़ जायगी कि वह शक्ति के रूप में अनुभव भी नहीं की जाने लगेगी।

इसी प्रकार कायिक शक्ति को भी समझें। कहने का आशय है कि हर समय इन विविध

शक्तियों का जो अपव्यय होरहा है उसकी ओर ध्यान देकर उसे रोका जाय, उनको लक्ष्य में केन्द्रित किया जाय इससे जो कार्य वर्षों में नहीं होता वह महीनों, दिनों घंटों एवं मिनटों में होने लगेगा, क्योंकि जहां कहीं उसका प्रयोग होगा पूरे रूप से होगा। अतः उस कार्य की शीघ्र सफलता अवश्यम्भावी है।

मनः शक्ति के विकास के लिये मन की दृढ़ता जरूरी है। पचास बातों पर विचार न करके एक ही बात पर विचार किया जाय। व्यर्थ के संकल्प विकल्पों को रोका जाय। वचन शक्ति को प्रबल करने के लिए परिमित बोला जाय, मौन रहने की आदत डाली जाय। कायिकशक्ति का संचय करने के लिये इधर उधर व्यर्थ न घूमा फिरा जाय, इन्द्रियों को चंचल न बनाया जाय।

इस तरह तीनों शक्तियों को प्रबल बनाकर और निश्चित कर उन्हें लक्ष्य की ओर करने से जीवन में अद्‌भुत सफलता मिल सकेगी। लक्ष्य की प्राप्ति ही जीवन की सफलता है।

जड़ पदार्थों के अधिक समय के संसर्ग से हमारी वृत्ति बहिर्मुखी होगई है। अतः प्रत्येक कार्य एवं कारण का मूल हम बाहर ही खोजते रहते हैं। हम यह कभी अनुभव ही नहीं करते कि आखिर कोई चीज आयगी कहां से? और देगा कौन? यदि उसमें वह शक्ति है ही नहीं तो हम लाख उपाय करें, पर जड़ तो जड़ ही रहेगा, चेतन से सम्बन्धित होकर वह चेतना भास हो सकता है पर चेतन नहीं, क्यों कि प्रत्येक वस्तु का स्वभाव भिन्न है जिसका जो स्वभाव है वह उसी रूप में ही रहते हैं स्वभाव छोड़ के नहीं। उपादान नहीं है तो निमित्तादि कारण करेंगे क्या? अतः कार्य कारण का सम्बन्ध हमें जरा अन्तर्मुखी होकर सोचना चाहिये। जो अच्छा बुरा करते हैं वह हमी करते हैं अन्य नहीं, और जब कोई विकास होता है वह अन्दर से ही होता है बाहर से नहीं। निमित्त तभी कार्यकर होते हैं जब उपादान के साथ हो सम्बन्धित हों।

हमारी शक्ति का स्रोत हमारे अन्दर ही है। अतः उसे बाहर ढूंढते फिरने से सिद्धि नहीं होगी। मृग की नाभि में कस्तूरी होती है, उसकी सुगन्ध से वह मतवाला है, पर वह उसे बाहर कहीं से आती हुई मानकर चारों ओर भटकता फिरता है फिर भी उसे कुछ हाथ नहीं आता। इसी प्रकार हम अपने स्वरूप, स्वभाव, गुणों को भूलकर पराई आशा में भौतिक पदार्थों को जुटा कर उनके द्वारा ज्ञान, सुख, आनन्द प्राप्त करने को प्रयत्न शील है। यह भ्रम है। इसी भ्रम के कारण अनेकों अनन्त काल से सुख प्राप्ति के लिये भौतिक साधनों की ओर आशा लगाये बैठे रहे, पर सुख नहीं मिला। बाह्य जगत् से हम इतने अधिक घुल मिल गये हैं कि इससे अन्य एवं भिन्न भी कुछ है इसकी कल्पना तक हमें नहीं हो पाती। जिन महा पुरुषों ने अपनी अनन्त आत्म शक्ति को पहिचान कर उसे प्रकट की है पूर्णज्ञान एवं आनन्द के भागी बने हैं उनकी सारी चिन्तायें विलीन हो गई हैं आकुलता व्याकुलता नष्ट होकर पूर्ण शान्ति प्रकट हो गई। उनको इच्छा नहीं, आकांक्षा नहीं, अभिलाषा नहीं, आशा नहीं, चाह नहीं अतः अन्तर्मुखी बन कर अपनी शक्ति को पहचानना और उसका विकास करना ही हम सबके लिए नितान्त आवश्यक है।

---

जीवन केवल बिताने के लिए नहीं दिया गया है, वह तो श्रेष्ठ बनके लिए दिया गया है।

\+ + +

जो चीजें स्वयमेव नष्ट हो जाने वाली हैं, क्या यह सम्भव है कि उनमें मन लगाकर तुम वास्तविक सुख प्राप्त कर सकते हो? कदापि नहीं। वास्तविक सुख तभी प्राप्त हो सकता है कि जब तुम उन वस्तुओं में अपना मन लगाओ जो नित्य और स्थायी हैं तथा कभी नष्ट नहीं होतीं।

\+ + +

# दवा लेना जरूरी नहीं है।

(पं० रामनरायण शर्मा)

इस संसार में करोड़ों प्राणी और जीव-जन्तु ऐसे हैं जो बिना दवा खाये ही अपने रोग मेट सकते हैं और अपनी जाति के खाने-योग्य भोजन खाकर निरोग रहते हैं। वे केवल निरोग ही नहीं रहते बल्कि अपने शरीर में उत्तम बल और शक्ति भी पैदा कर लेते हैं। इसलिए अपने को बुद्धिमान् समझने वाला और सृष्टि के सब प्राणियों से अपने को श्रेष्ठ मानने वाला मनुष्य यदि जन्म से यही समझता है कि औषधियों के खाये बिना रोग मिटते ही नहीं, तथा गोलियाँ, पाक या तांबा आदि धातुओं की भस्म खाये बिना शरीर में शक्ति बढ़ती ही नहीं, तो यह बड़े ही खेद का विषय है। मनुष्य मृत्युपर्यन्त इसी भ्रम में पड़ा रहता है। जहां किसीको कुछ शारीरिक व्याधि हुई अथवा ज्यों हीं बीमार होकर खाट पर पड़ा, त्यों ही उसकी अवस्था देखने के प्रयोजन से आने वाले स्नेही तथा संबंधी लोग सबसे पहले यही प्रश्न किया करते हैं कि "कोई दवा दी जाती है या नहीं ?" "किसकी दवा दी जाती जाती है ?" 'क्या दवा दी जाती है ?' इत्यादि। केवल इतना ही नहीं, बल्कि जो दवा चलती होती है उससे यदि कुछ लाभ नहीं मालूम पड़ा हो तो सर्वज्ञ की नाईं कोई नई दवा भी बतलाने लगते हैं।

सर्वत्र मनुष्यों की ऐसी ही प्रवृत्ति देखने से मालूम होता है अधिकांश व्यक्तियों की यही दृढ़ धारणा है कि औषधि खाये बिना रोग दूर ही नहीं होते। मंदाग्नि से, भारी परिश्रम से, चिन्ता से, दुराचार से अथवा ऐसे ही अन्य किसी कारण से जिन लोगों का शरीर निर्बल और क्षीण हो गया है, वे यही समझ लेते हैं कि कोई बल बढ़ाने वाली दवा खाये बिना ताकत नहीं आने की। लोगों के मनमें दृढ़ता के साथ समाये हुए इस विचार के परिणाम में प्रतिदिन हजारों और लाखों नई नई दवाइयां निकलती हैं। सवेरा हुआ नहीं कि एक न एक नई दवा का विज्ञापन हाथ में आ ही जाता है। समाचारपत्र हाथ में लीजिए तो आगे, पीछे और बीच में दवाओं के विज्ञापन दृष्टि के सामने आ ही जाते हैं। घर में से बाहर निकलिए तो दरवाजे पर अथवा गली में, मकानों की दीवारों पर, मोटे मोटे अक्षरों में छपे हुए दवाओं के नोटिसों पर नजर पड़ ही जाती है। कोई नई पुस्तक लेकर देखिए तो उसमें भी ये ही विज्ञापन सर्वव्यापी ईश्वर की नाईं मौजूद रहते हैं। और कहां तक कहा जाय, यदि आप कोई साहित्यसंबंधी मासिक पत्र हाथ में लें, व्यवहारनीति आदि का उपदेश देने वाला कोई पत्र या पत्रिका पढ़ने बैठें, अथवा धर्म, तत्वज्ञान और वेदांत जैसे गहन विषयों की आलोचना करने वाले मासिक पत्रों को हाथ में लें तो भी लज्जा-जनक शब्दों में लिखे हुए दवाओं के विज्ञापन दिखाई पड़े बिना न रहेंगे।

बात यह है कि आजकल पैसा पैदा करने के बहुत से मार्ग तो हो गये हैं बंद, इसलिए जहाँ-तहां से दस-पांच बनस्पतियां इकट्ठी करके और उन्हें कूट-छानकर उनकी गोलियां तैयार करके भोले लोगों के हाथ बेचकर पैसा खींचने का धंधा अनेक लोग ले बैठे हैं। "बिना दवाओंके रोग दूर नहीं होते" ऐसा विश्वास करने वाले असंख्य प्रजाजन इन दवाई बेचने वालों से दवाइयां खरीदते और उनका घर भरते हैं। पिछले बीस पचीस वर्षों में हजारों दवायें आविष्कृत हो चुकी हैं और उनके विज्ञापन ऐसी ओजपूर्ण और सजीव भाषा में निकलते हैं कि उन्हें पढ़कर लोगों को यही विश्वास हो जाता है कि उनके सेवन से कोई न कोई लोकोत्तर लाभ प्राप्त हुए

बिना न रहेगा। यदि इन दवाओं के सम्पूर्ण विज्ञापनों का संग्रह करके कोई व्यक्ति इस दुनिया से किसी दूसरी दुनिया में चला जाय और वहां के लोगों को इन विज्ञापनों का आशय समझावे तो वे लोग यही समझेंगे कि मृत्युलोक में इस समय रोगों का नाम निशान भी नहीं होगा, वहां के तमाम मनुष्य अत्यन्त हृष्टपुष्ट होंगे, वृद्धावस्था का वहां कुछ भी दुःख न होता होगा, अकालमृत्यु किसीकी भी नहीं होती होगी, हैजा, प्लेग, आदि जनपदनाशिनी बीमारियां न होती होंगी, आरोग्यसंबंधी नियमों के भंग करने पर भी किसी को कोई दुःख न होता होगा और रोगों का बिल्कुल भी भय न होने के कारण लोग इच्छानुसार भोग भोगते हुए मौज उड़ाते होंगे। परन्तु हम यह बात जानते हैं कि इतनी अधिक रामबाण दवाओं के निकलते हुए भी, मुहल्ले २ तथा गली में डाक्टरों और वैद्यों के रोगों को मार भगाने के लिए तैयार बैठे रहने पर भी, और लोगों के प्रत्येक वर्ष अपनी शक्ति के अनुसार सैकड़ों तथा हजारों रुपया खर्च करते रहने पर भी दिन दिन रोगों का त्रास बढ़ता ही जाता है। रोगों के अधिक वृद्धि पाने के कारण लोगों के शरीर निर्बल होते जाते हैं, शारीरिक शक्तियां क्षीण होती जाती हैं, और देश में निरंतर प्लेग, हैजा जैसी व्याधिओं का प्रकोप बने रहने के कारण हजारों तथा लाखों नरनारी अकाल में ही काल के ग्रास होते जाते हैं।

दवाइयों से रोग उस समय तो दब जाता है, परन्तु उनके खाने से शरीर की शक्ति बहुत कुछ नष्ट हो जाती है जिससे कि शरीर में नये नये रोग घर कर लेते हैं। संसार में आज तक जितनी भी मुख्य लड़ाइयां हुई हैं उन सबमें जितने जितने मनुष्य मारे गये हैं उनसे कहीं अधिक व्यक्ति इन नई दवाइयों के कारण मरे हैं। इसलिए उचित यही है कि जब कोई रोग आकर गला दबा ले, तब उस रोग की दवा करने के बदले उन कारणों को दूर करना चाहिए जिनसे वह उत्पन्न हुआ हो, और ऐसा कोई कुदरती उपाय करना चाहिए जिससे किसी प्रकार की हानि न पहुंचे। रोगों के मूल कारण को नष्ट न करके रोगों को दवा देने के लिए औषधि देने की आजकल की प्रणाली कुछ इस तरह की है, जैसे किसी स्थान में बड़ी बुरी दुर्गंध आती हो और वहां दुर्गंध पैदा करने वाले कारणों को दूर न करके उस दुर्गंध को दबाने के लिए लोभान और अगर आदि की खुशबूदार धूप दी जाय। इसमें संदेह नहीं कि लोभान और अगर आदि की धूप से थोड़े समय के लिए दुर्गंध दब सकती है, परन्तु उस दुर्गंध का मूल कारण दूर नहीं होता, और लोभान तथा अगर की धूप न रहने पर दुर्गंध फिर जोर के साथ उठने लगती है। बुखार आने पर 'अस्पिरीन' अथवा 'एंटी पायरीन' नामक दवाओं के खाने से बुखार तुरंत उतर जाता है, पर आप क्या यह समझते हैं कि वह बुखार बिल्कुल चला गया? नहीं, वह केवल उसी समय के लिए दब गया। जिस कारण से बुखार आया था वह कारण अभी तक बना हुआ है, उसका नाश नहीं हुआ। इसलिए शरीर की पीड़ा भी बिल्कुल नष्ट नहीं हुई। समय पर फिर उठ आवेगी। ऐसी दशा में रोगों को केवल थोड़े समय के लिए दवा देने की अपेक्षा उनका मूल कारण नष्ट करना कहीं श्रेष्ठ है।

रोगों का शरीर में प्रकट होना कुछ प्राकृतिक नियम नहीं है। बल्कि आरोग्य-सम्बंधी नियमों का पालन न करने के कारण शरीर में जो जहर संचित हो जाता है उस जहर को बाहर निकालने का प्रयत्न जब प्रकृति करती है तभी शरीर में रोग प्रकट होते हैं। अतएव रोग अहित करने वाला शत्रु नहीं है, बल्कि हित करने वाला मित्र है। इसलिए रोगों को दवा देने के लिये दवा खाने का प्रयत्न ऐसा है जैसे शरीर के भीतर से निकलने वाले जहर को रोककर शरीर ही में जमा रखना। घर में यदि फन फैलाए हुए भयंकर सांप बैठा हो तो बुद्धिमानी यही है कि उस सांप

को पकड़ कर घर से बाहर निकाल कर कहीं छोड़ दिया जाय। सांप को बाहर न निकाल कर उसके ऊपर डला ढक देने से अथवा उसके बिल को मिट्टी आदि से बंद कर देने से सर्प का भय बिल्कुल नहीं मिट सकता। सांप जब घर ही में है तो वह किसी न किसी दूसरे रास्ते से बाहर निकल सकता है और प्राणों का भय उपस्थित कर सकता है। इसी प्रकार आजकल जितनी दवाइयां चल पड़ी हैं वे शरीर के अन्दर रोगरूपी सांप को केवल दबा देने मात्र का ही काम करती हैं। सांप को घर में से बिल्कुल निकाल देने की उनमें शक्ति नहीं है। इसलिए इन दवाइयों का खाना रोग मेटने का उत्तम उपाय नहीं है।

---

# जीवन के लिए सरदी भी उपयोगी है।

जब जब शरीर में गर्मी बढ़ती है तब तब देखा जाता है कि शरीर का पोषण होना बन्द हो जाता है और जीवनी शक्ति घटने लगती है। गर्मी की वृद्धि शरीर के अन्दर बढ़े हुए विष का सूचक है। विष की वृद्धि का कारण अप्राकृतिक जीवन है। जीवन के साथ खान-पान, आहार-विहार का सम्बन्ध है। आज का मानव खान-पान और आहार-विहार की स्वाभाविकता को छोड़ता जारहा है। और उसी अस्वाभाविता के कारण शरीर में गर्मी की वृद्धि होती है। अस्वाभाविकता से पोषित होने के कारण बढ़ी हुई गर्मी को सहन करने की शक्ति शरीर में रह नहीं जाती, ऐसी अवस्था में या तो अनेकों रोगों का सामना करना पड़ता है या मृत्यु की तैयारी करनी पड़ती है।

जीवन का आरंभ यदि स्वाभाविकता से हुआ हो, शरीर का प्रत्येक ऋतु के साथ स्वाभाविक सम्पर्क हो, न अधिक गर्मी से उसमें तपन को स्थान मिले और न अधिक सरदी से शीत को— समशीतोष्ण की अवस्था में यदि जीवन का निर्माण हो तो फिर न शोक होगा न रोग और फिर मृत्यु की वेदना भी उसे नहीं सहनी पड़ेगी।

अस्वाभाविक जीवन की विस्तृत व्याख्या की तो आवश्यकता नहीं है, पर बिना सामान्य चर्चा किये उसकी वास्तविकता भी न समझी जासकी। गरम पानी से स्नान और शरीर को कपड़ों से ढँक कर रखने की आदत का सम्बन्ध स्वाभाविक जीवन से नहीं है। बरफ का उपयोग, या खसकी टट्टियों का उपयोग भी स्वाभाविक जीवन में नहीं गिना जासकता। भोजन का सम्बन्ध जीवन रक्षण से है न कि स्वाद से। स्वाद का आश्रय लेने पर ऐसी अनेकों चीजों का प्रयोग करना पड़ता है जो स्वास्थ्य की दृष्टि से शरीर को हानि पहुंचाती हैं और मन की शान्ति को भी खो देती हैं इनमें से मसालों का नाम सर्वोपरि लिया जासकता है। चाय, काफी और कोको भी उसमें गिने जा सकते हैं। ये सारी की सारी चीजें शरीर में अनावश्यक गरमी की वृद्धि करती हैं जिसका परिणाम या तो आमाशय को भोगना पड़ता है या हृदय और मस्तिष्क को। वात तन्तुओं पर तो इनका बड़ा घातक असर होते देखा गया है। आमाशय, हृदय, मस्तिष्क और वाततन्तु ये सब मिलाकर ही तो मनुष्य को एक गतिवान मशीन बनाते है। मशीन के एक भी पुरजे में विकार आजाय या अपने काम में शिथिल पड़ जाय तो सारा शरीर बेकार होजाता है।

विकारी और शिथिल यंत्र को ठीक करने के लिए उसकी बढ़ी हुई ऊष्मा कम करने की आवश्यकता होती है और सरदी ही ऐसा उपयुक्त तत्त्व है जो कि मानव के जीवन और यंत्रों को समतुलित एवं कार्यकारी बनाता है गर्मी बढ़ाने वाले आहार-विहार का परित्याग और

शीतोपचार द्वारा मनुष्य फिर से स्वाभाविक स्थिति प्राप्त कर सकता है। गरमी कम हो जाने के कारण रोगी भारी शान्ति प्राप्त करता है शरीर विकार शून्य हो जाता है।

यह बतलाने की तो आवश्यकता है ही नहीं कि बढ़ी हुई गर्मी शरीर में बढ़े हुए मल या विष के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं है। सरदी इस मल को बाहर निकालती है इसलिए शीतोपचार द्वारा बेचैनी का दूर होना स्वाभाविक है।

बीमारी की हालत में पथ्य और संयम की परवाह किये बिना बीमार औषधियों का सेवन करना आरंभ कर देता है। औषधियां रोग को तो दूर नहीं करतीं लेकिन रोग के प्रभाव से शरीरिक यंत्रों को मूर्च्छित कर देती हैं जिससे रोग का ज्ञान नहीं होता पर शरीर भीतर ही भीतर खोखला होता जाता है, जीवनी शक्ति क्रमशः घटती जाती है और तब कभी भी एक साथ विस्फोट हो जाने की संभावना रहती है। इसलिए औषधि उपचार को छोड़कर प्राकृतिक उपचार की ओर ध्यान देने की अत्यन्त आवश्यकता है। प्राकृतिक उपचार न सिर्फ रोग को दूर करता है बल्कि शरीर से रोग का प्रवेश ही न हो इसके लिए भी उसे उपयुक्त बना देता है।

प्राकृतिक उपचारों में मिट्टी और पानी के उपचार प्रमुख हैं। ये दोनों ही शीतोपचार कहलाते हैं। इन उपचारों की एक मात्र मंशा मनुष्य को प्राकृतिक बनाने की है। प्रकृति ने जो जो चीज मनुष्य को दी हैं मनुष्य उसको विकृत बनाये बिना ही उपयोग करे और उसका रस ले। विकृत बनाकर उपयोग करने पर तो वह विकारों को निमन्त्रण देता ही है।

लेकिन बीमार के लिए सरदी अहितकारी है ऐसा समझने वालों की संख्या अधिक है। आमतौर से सभी यह जानते हैं कि शीतकाल मनुष्य की पाचन शक्ति को बढ़ा देता है। जिस प्रकार पाचन शक्ति के लिए शीतकाल जीवन देता है इसी प्रकार शीतोपचार मानव जीवन के लिए शान्ति दाता है।

मिट्टी और पानी की तरह हवा भी मनुष्य को प्रकृति की देन है। जो रोगी खुली हवा का उपयोग करते हैं, वे जानते हैं कि उन्हें कितनी आसानी से शान्ति मिलजाती है। क्यों कि हवा भी श्वास-प्रश्वास द्वारा शरीर गत मल को बाहर निकाल कर रोग को दूर कर देती है। पानी की भीगी चादरें उढ़ाकर अनेक लोगों के बुखार को दूर किया गया है, मिट्टी की पट्टी लगा कर अनको की बेचैनी भगाई गई है। ये सब क्या हैं? सभी प्राकृतिक उपचार, सभी अन्दर की अनावश्यक गर्मी के शत्रु।

शरीर में सहने की शक्ति महान है, जैसी इसकी आदत डालदी जायगी, पड़ जायगी। अस्वाभाविक आदत पड़ जाने से जीवन भी अस्वाभाविक हो जाता है और ऐसे लोग प्रायः रोग के घर बने रहते हैं इसलिए रोग से बचने बचन का उपाय ही है स्वाभाविक जीवन बिताना।

स्वाभाविकता की पहचान यही है कि जिसके बिना भी जीवन बना रह सकता है उस वस्तु का उपयोग न हो, स्वाद के लिए कोई वस्तु न खाई जाय और दिखावे के लिए कुछ न पहना जावे। जिन्दा रहने और जीवनी शक्ति को बनाये रखने की ही दृष्टि से जीवन के प्रत्येक व्यवहार को करना चाहिए। जैसे २ मानव इस पर मनन करता जायगा, वैसे वैसे ही उसका जीवन स्वाभाविक और प्रकृति के अनुकूल बनता जायगा। उसकी सहन शक्ति बढ़ती जायगी। मन में शान्ति रहेगी और सरदी के साथ प्रेम करना आरंभ हो जायगा। जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में सरदी उसे हर हालत में उपयोगी दिखाई देगी।

---

चिन्ता, निराशा और ग्लानि शरीर के लिए जहर हैं। आशा, हिम्मत, उल्लास और प्रफुल्लता में संजीवन शक्ति है। + +

# पातिव्रत-धर्म का मर्म ।

( श्रीमती प्रभावतीदेवी, वारा )

विवाह होने से पति तो मिल जाते हैं परन्तु पति की जिस लिए आवश्यकता होती है वह बात नहीं मिलती इसलिए आजकल के विवाह का उद्देश्य बेकार सा होता जारहा है।

स्त्रियां देवी हैं, माता हैं यह कहा जाता है। शास्त्रों में स्त्रियों को "स्त्री समस्ता तवदेविभेदाः" देवियों का भेद विशेष ही बताया गया है तब जो शक्तियां देवियों में देखी जाती हैं और जिसके कारण उनकी मान्यता होती है वे सब तो आज की स्त्रियों में नहीं के बराबर होती हैं फिर स्त्रियों में कौनसा दोष घुस गया है जिसके कारण पुराने जमाने की स्त्रियों जैसी स्त्रियां आज नहीं पाई जातीं।

सुख पाना यही तो मनुष्य चाहता है लेकिन असली सुख को छोड़ कर जब मनुष्य नकली सुख के रास्ते पर चलना आरंभ कर देता है तो उसे असली सुख नहीं मिलता, आज के जमाने में इन्द्रियों को तृप्त करने में ही हम लोगों ने सुख मान रखा है। इन्द्रियां भोग से कभी तृप्त होती ही नहीं हैं जैसे जैसे भोग भोगे जाते हैं वैसे २ ही इन्द्रियों की लालसा बढ़ती जाती है। भागवत में भी इसी बात को कहा गया है—

"न जातु कामः कामानां उपभोगेन साम्यति।"

इन्द्रिय तृप्ति भोगों से नहीं होती वह तो संयम से मिलती है, ज्ञान से मिलती है, भक्ति से मिलती है, और इन्द्रिय तृप्ति का असली नाम ही सुख है। इस तृप्ति के लिए ही भगवान ने हम लोगों पर उपकार करके विवाह और पति की सृष्टि की है।

विवाह होगया, पति भी मिल गये लेकिन सुख नहीं इसका एक मात्र कारण तो मैं यही समझी हूं कि विवाह के पहले जो इन्द्रिय जन्म भोग की भावना जन्म से ही हम लोगों में संस्कारित की जाती है वह ही हमें न संयम से रहने देती है और न अपने धर्म को पालने देती है। धर्म और संयम के पास न रहने से हममें अतृप्ति बढ़ती जाती है, यही दुःख का रूप धारण कर लेती है।

स्त्रियों को पातिव्रत धर्म के सिवाय दूसरा कोई धर्म सुखदाता नहीं होता, भक्त जैसे सब कुछ अपने देवता के लिए करते हैं, स्त्री भी जब अपने पति को परमात्मा मानकर अपना सब कुछ उसी के लिए करने लगती है तो यह सब कुछ करना पातिव्रत धर्म हो जाता है।

पति की सेवा, पति की आज्ञा पालन पति की उन्नति में ही अपनी उन्नति समझना और पति के हित में ही अपना हित मिला देना पातिव्रत-कर्म में सामिल होता है। जिस कर्म से बन्धन टूट जांय, उससे मुक्ति मिल जाय वही तो कर्म है। जो कर्म दुःख में घसीट ले जाय और संसारी बंधन में बांध दे, बड़े-बड़े विद्वान, साधुसन्यासी योगी—यती उसे कर्म नहीं मानते। आज हम सब उसीके विपरीत तो अपना आचरण बनाये हुए हैं और इसी लिए भारी विपत्ति में पड़ी हुई हैं।

पहले समय में सावित्री जैसी सती हमीं लोगों में से तो थीं जिसने यमराज से लड़कर अपने पति को मरने से बचालिया था। पार्वती ने भगवान शिव को पतिरूप में प्राप्त कर लिया था। भारत की स्त्रियों की कितनी ही बातें इतिहास में लिखी हुई हैं जिनसे उनकी शक्ति और उनके सुख का पता मिलता है, वह सब उनके पातिव्रत धर्म का ही प्रभाव है। पुराणों में कथा है, महासती अनुसुइया ने अपने पति के कष्ट को देखकर अपने आश्रम के किनारे ही गंगाजी को बुलालिया था, चित्रकूट में आज भी वे गंगाजी मौजूद हैं।

जिस पति व्रत धर्म की इतनी महिमा बतलाई जाती है उसे या तो हम समझ नहीं पातीं या अपने अज्ञान में इतनी भूली रहती हैं कि सब दुःख सहते रहने पर भी पातिव्रत धर्म रूपी बड़ी भारी दवाई की ओर झांकती भी नहीं हैं।

धर्म के पालन में संस्कारों की जरूरत होती है, इसलिए कन्याओं में इस बात के संस्कार डालने की जरूरत है जिससे पति ही देवता, पति ही गुरु, पति ही धर्म और पति ही कर्म है, वे मानें। बच्चों पर मां के संस्कारों का असर होता है। मां जैसे रहती-करती-धरती है बच्चे भी उसी से अपना आचरण बनाते हैं। इसलिए अपनी कन्या को पतिव्रता बनाने के लिए मां को भी पतिव्रत धर्म पालन करने की जरूरत होती है। मां के ज्ञानवान होने से धर्म पालन की संभावना होती है। लेकिन कोरा ज्ञान भी अपना कोई असर नहीं करता। ज्ञान को जीवन में लाने या ज्ञान के अनुसार जीवन बनाने पर ही ज्ञानी होने की सार्थकता है।

जिसके पास ज्ञान होता है वह अपने हर-एक काम के बाहरी भीतरी रूप को जानती है इसलिए भूलकर भी वह ऐसा कोई काम नहीं करती जो पति के कल्याण और उसकी उन्नति में बाधक हो। पति को खुश रखने की तो कोशिश करती है पर उसे ऐसे किसी भी रास्तेपर नहीं जाने देती जिससे उसका अहित हो। लेकिन वह उसका शासन नहीं करती, उस पर राज्य नहीं करती अपनी प्रिय बोली, अपनी सेवा, अपने त्याग अपनी कर्त्तव्य परयणता और व्यवहार पटुता से वह पति को ऐसे रास्ते से लौटा लाती है जो कि उसे हानि करने वाला होता है। पत्नी की इस तरह की जागरूकता और पति के प्रति तन्मयता उसे इतनी शक्ति दे देती है जिससे कि वह यम से भी लड़ सकती है। पति को भगवान समझ कर स्त्री अपनी सोई हुई शक्ति को जगा लेती है। इससे वह दासी नहीं हो जाती। इससे तो वह अपने असली रूप को पालेती है। वह पति की अन्तर्शक्ति को जगाकर माता बन जाती है और स्त्री जन्म को सार्थक कर लेती है।

---

# तीर्थ यात्रा क्यों करें ?

---

तीर्थ यात्रा के महात्म्यों का धर्म शास्त्रों में सुविस्तृत वर्णन मिलता है। चारों धाम, सात पुरी सात ज्योतिर्लिंगम्, तथा अनेक सरिता, सर, वन उपवन तीर्थों की श्रेणी में गिने जाते हैं, इनके दर्शन, निवास, स्नान, भजन, पूजन, अर्चन करने में धर्म लाभ होने की हिन्दू धर्म में सुस्थिर मान्यता है। इन तीर्थों में लाखों करोड़ों की संख्या में हिन्दू जनता धार्मिक भावनाओं से प्रेरित होकर जाती है। विशेष पर्वों पर तो तीर्थों में असाधारण भीड़ें होती हैं। करोड़ों रुपया इस अवसर पर हस्तान्तरित होता है।

आधुनिक युग बुद्धिवाद का युग कहा जाता है। इस युग में हर बात को बुद्धिवाद की तराजू पर तोलने की प्रथा है। जब सभी विषयों में खोजें और अन्वेषण हो रहे हैं तो धार्मिक प्रथाओं के सम्बन्ध में विचार विमर्श होना स्वाभाविक है। तीर्थों के सम्बन्ध में भी नई पीढ़ी की बुद्धिवादी जनता विचार करती है। किन्तु जब वह नव विकसित बाल बुद्धि उनकी वास्तविकता और उपयोगिता को ठीक प्रकार समझ नहीं पाती तो कुतर्क करने लगती है। तीर्थों के अस्तित्व को अनुपयोगी, हानिकारक तथा अवांछनीय तक बताया जाता है। आइये, इस प्रश्न पर एक विवेचनात्मक दृष्टि डालें।

तीर्थों की स्थापना करने में हमारे तत्वदर्शी पूर्वजों ने बड़ी बुद्धिमता का परिचय दिया है जिन स्थानों पर तीर्थ स्थान स्थापित किये गए हैं वे जलवायु की दृष्टि के बहुत ही उपयोगी हैं

जिन सरिताओं का जल विशेष शुद्ध उपयोगी, हलका तथा स्वास्थ्य प्रद पाया गया है उनके तटों पर तीर्थ स्थापित किये गए हैं। गंगा के तट पर सबसे अधिक तीर्थ हैं, कारण यह है कि गंगा का जल संसार की समस्त नदियों से अधिक उपयोगी है। उस जल में स्वर्ण, पारा, गंधक तथा अभ्रक जैसे उपयोगी खनिज पदार्थ मिले रहते हैं जिसके संमिश्रण से गंगाजल एक एक प्रकार की दवा बन जाता है, जिसके प्रयोग से उदर रोग, चर्म रोग तथा रक्त विकार आश्चर्य जनक रीति से अच्छे होते हैं। कुष्ट रोग को दूर करने की गंगाजल में महत्व पूर्ण क्षमता मौजूद है। इसी प्रकार अन्य नदी सरोवरों में अपने २ गुण हैं। इन गुणों की उपयोगिता का तीर्थों के निर्माण में प्रधान रूप से ध्यान रखा गया है।

आज कल वायु परिवर्तन के लिए लोग पहाड़ों पर जाया करते हैं। रोगी और दुर्बलों को डाक्टर लोग वायु परिवर्तन के लिए किन्हीं स्वास्थ्य प्रद स्थानों में भेजते हैं। यह दृष्टिकोण तीर्थों में भी रखा गया है। जहां की भूमि, वनस्पति, ऋतु, आदि के आधार पर स्वास्थ्य प्रद वायु पाई गई है वहां तीर्थ कायम किए गए हैं। इन स्थानों पर कुछ समय निवास करके वहां के जलवायु का सेवन करने से तीर्थ यात्रियों के स्वास्थ्य पर बड़ा अच्छा प्रभाव पड़ता है इस तथ्य से प्रोत्साहित होकर विवेकशील आचार्यों ने वहां तीर्थ बना दिये।

तीर्थ यात्रा में पैदल चलने का विशेष महत्व बताया गया है। पैदल चलना शरीर को सुगठित करने और नाड़ी समूह तथा मांस पेशियों को बलवान बनाने के लिये आवश्यक उपाय है। आयुर्वेद शास्त्रों में प्रमेह चिकित्सा के लिए सौ योजन अर्थात चार सौ कोस पैदल चलने का आदेश दिया है। अधिक चलने से जंघाओं को नाड़ियों और मांस पेशियों का अच्छा व्यायाम होता है और वे परिपुष्ट हो जाती हैं। ढीली नस नाड़ियों की संकुचन शक्ति शिथिल पड़ जाने के कारण वीर्य नीचे की ओर स्रवित होता रहता है, और स्वप्नदोष, प्रमेह, पेशाब के साथ चिकनाई आना, शीघ्र पतन, बहुमूत्र आदि रोग उत्पन्न हो जाते हैं, इस व्यथा से छुटकारा पाने के लिए कटि प्रदेश तथा जंघाओं के नाड़ी समूह तथा मांस पेशियों को ठीक करना पड़ता है। आयुर्वेद की सम्मति में इसका अच्छा उपचार नियमित रूप से पैदल चलना है। जिससे कटि, पेड़ू और जंघायें सुदृढ़ हो जावें। तीर्थ यात्रा इस उद्देश्य को बड़ी अच्छी तरह पूरा करती है। पैदल तीर्थ यात्रा करने से स्वस्थ व्यक्तियों का शरीर गठन ऐसा अच्छा हो जाता है जिसमें प्रमेह आदि का आक्रमण नहीं हो पाता जिन्हें मूत्र रोग होते हैं उन्हें उन व्यथाओं से बिना दवा दारू में धन लुटाये स्थायी रूप से लाभ हो जाता है।

जो लोग लम्बी यात्रायें नहीं कर पाते थे सुदूर देश में जाने की जिन्हें सुविधायें न होती थीं उन्हें किसी एक ही तीर्थ की परिक्रमायें करने को कहा जाता था। पेट के बल दंडवती परिक्रमायें करना आंतों के रोगों के लिए उपयोगी है, तिल्ली एवं जिगर भी इससे मजबूत होते हैं और उनके बहुत से विकार दूर हो जाते हैं। पर्वतों पर बहुत ऊंचे कुछ तीर्थ बनाये गये हैं ऊंची चढ़ाई चढ़ने से हड्डियों की संधियाँ मजबूत होती हैं तथा गठिया होने का भय नहीं रहता। फेफड़ों को मजबूत बनाने के लिए ऊंचा चढ़ना और नीचा उतरना असाधारण रूप से उपयोगी है। पहाड़ी प्रदेशों के रहने वाले व्यक्ति, जिन्हें ऊंचा चढ़ना और नीचे उतरना पड़ता है चौड़ी छाती वाले होते हैं उन्हें तपैदिक जैसे फेफड़े के रोगों से ग्रसित नहीं होना पड़ता। कंधे पर गंगाजल की कांवर रख कर शिवरात्रि पर यात्रा की जाती है। इससे कंधे की नसों पर दबाव पड़ता है। इन नसों का मूलाधार चक्र की गुदा नाड़ियों से सम्बन्ध है अतएव गुह्य स्थान पर उसका प्रभाव होता है और बवासीर सरीखे रोगों की संभावना नष्ट हो जाती है।

स्वास्थ्य लाभ के उपरोक्त दृष्टि कोण से तीर्थ-यात्रा महत्व पूर्ण है। इसके अतिरिक्त देशाटन से ज्ञानवृद्धि का जो लाभ होता है वह भी कम उपयोगी नहीं है। जीवन की बहुमुखी उन्नति के लिए मनुष्य जाति के स्वभाव, आचार, विचार, व्यवहार, रहन सहन, प्रथा, विश्वास, कार्यक्रम, परिपाटी, अर्थ, नीति आदि का अध्ययन करने की बड़ी भारी आवश्यकता है। देशाटन करने से मूर्ख मनुष्य भी बहुत अंशों में बुद्धिमान बन जाते हैं और घर से बाहर पैर न रखने वाले कूप मंडूक, ऊंची शिक्षा प्राप्त कर लेने पर भी अर्ध मूर्ख बने रहते हैं। देशाटन केवल मनोरंजन नहीं है वरन् एक ठोस शिक्षाक्रम है। जितना वास्तविक ज्ञान मनुष्य दो महीने के देशाटन में प्राप्त कर सकता है उतना दो वर्ष तक पुस्तकें पढ़ने पर नहीं पा सकता। उच्च श्रेणी के मनुष्य अपनी आर्थिक, सामाजिक, बौद्धिक तथा शारीरिक स्थिति अच्छी बनाने के लिए प्रतिवर्ष कुछ न कुछ समय देशाटन के लिए अवश्य निकालते हैं। बेवकूफ लोग अन्दाज लगाते हैं कि यह सैर सपाटे का समय व्यर्थ जाता है पर सच बात यह है कि दस घंटे पिले रह कर आदमी जितना उपार्जन करता है, उन सैर सपाटे के दिनों में कई दृष्टियों से बहुत ऊंची चीजें कमा लेता है, तीर्थ यात्रा के अवसर पर अनेक स्थलों को देखने अनेक प्रकार के मनुष्यों की विभिन्नताएं समझने को, विविध स्थलों की विशेषताएं जानने का अलभ्य अवसर मिलता है। अनेक कठिनाइयों का एवं दुष्ट, चोर, ठग और धूर्तों का सामना करना पड़ता है इस संघर्ष में मनुष्य की चेतना जागरूकता, सतर्कता एवं विवेचना शक्ति बढ़ती है, यात्रा के अनुभवों से परिपुष्ट होकर मनुष्य का बौद्धिक स्वास्थ्य बढ़ता है और वह बढ़ोतरी शारीरिक स्वास्थ्य की तरह ही महत्व पूर्ण है।

देश के विविध भागों के एक स्थान पर जब एक समय में बहुत लोग पहुंचते हैं तो ऐसा अवसर स्वर्ण अवसर होता है। व्यापारी लोग अपनी वस्तुएं उस वृहद् जन समूह के हाथों बेचते हैं, ग्राहक लोग उन एकत्रित व्यापारियों से नई २ वस्तुएं देखते हैं और दुष्प्राप्य चीजों को सुविधा पूर्वक खरीद लेते हैं। इससे देश की व्यापारिक औद्योगिक एवं आर्थिक स्थिति मजबूत होती है। आगन्तुक लोग एक ही स्थान पर विविध प्रदेशों की विभिन्नताओं का ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। एक दूसरे से परिचय, संपर्क और हेल मेल बढ़ा सकते हैं। कोई प्रचारक अपने विचारों को एक स्थान पर रह कर भी अनेकों व्यक्ति में फैला सकता है। जन संपर्क के इस स्वर्ण संयोग से आगन्तुकों को लाभ पहुंचे, इस दृष्टि कोण से तीर्थों में अनेकों प्रकार के आयोजन होते थे। कला, प्रदर्शनी, संगीत, वक्तृता, कीर्तन, प्रवचन, सत्संग, सभा, सम्मेलन, अभिनय, आदि द्वारा उपयोगी ज्ञान सामिग्री प्राप्त करने की आगन्तुकों को यहां अनेक सुविधाएं होती थी।

तीर्थ पुरोहित—पण्ड्या (सद्बुद्धि के भंडार) तपस्वी विद्वान, बुद्धिमान, पथ प्रदर्शक ऋषि कल्प, निस्पृह, ब्रह्मवेत्ताओं के आश्रमों में जाकर यात्री लोग ठहरते थे। इन स्थावर और जंगम दोनों ही प्रकार के तीर्थों में स्नान करने से यात्री का तन और मन, स्वस्थ, पुष्ट, चैतन्य एवं प्रफुल्लित हो जाता था। भूमि पर मंदिर जलाशय आदि के रूप में स्थिति स्थावर तीर्थ हैं और ऋषि, तपस्वी, परोपकारी, उच्च आत्मा वाले महापुरुष जंगम तीर्थ कहे जाते हैं। शास्त्रकारों ने स्थावर तीर्थ से भी जंगम तीर्थों का माहात्म्य अधिक विस्तार पूर्वक बताया है। तीर्थ यात्रा में दोनों ही प्रकार के तीर्थों का समन्वय होता था अतएव शारीरिक और बौद्धिक दोनों ही दृष्टियों से वहां जाने वालों को समुचित लाभ मिल जाता था।

जीवन की व्यावहारिक कठिनाइयों को सुलझाने के लिए वे तीर्थ पूर्ण पथ प्रदर्शन करते थे उन्हें विविध स्थानों की सुविस्तृत जानकारी होती थी फल स्वरूप बेटी बेटों के विवाह विविध

स्थानों की, फसल, व्यापारिक स्थिति, जीविका, शिक्षा, चिकित्सा आदि अनेकों विषयों में इन तीर्थ केन्द्रों पर पर्याप्त जानकारी प्राप्त हो जाती थी और उन जानकारियों के आधार पर ऐसे २ लाभ होते थे जो यात्रा में लगे समय तथा पैसे की अपेक्षा कहीं अधिक मूल्यवान होते थे। यात्री लोग अनेक दृष्टियों से इतने लाभ में रहते थे कि सांसारिक व्यापारिक बुद्धि से देखने पर भी तीर्थ यात्री फायदे में रहते थे।

तीर्थ स्थानों के ऐतिहासिक महत्व भी हैं, उन स्थान पर हमारे पूर्वज महापुरुषों के पुनीत चरित्रों का सीधा संबंध है। यह स्थान उन महापुरुषों के जीवन की महत्व पूर्ण घटनाओं की स्मृति दिलाते हैं जिससे दर्शक को प्रेरणा, प्रोत्साहन, जीवन, बल, साहस, तथा प्रकाश मिलता है। इतिहास स्वयं जीवन निर्माता है। अतीत काल के अनुभवों से भविष्य निर्माण का अत्यन्त घनिष्ठ संबंध है। पुस्तकों में अंकित इतिहास की अपेक्षा उन संबंधित स्थलों के स्मृति चिन्हों के आधार पर पढ़ा हुआ इतिहास अधिक प्रेरणा-प्रद होता है, अधिक हृदयंगम बन जाता है।

तीर्थों की स्थापना इस प्रकार की गई है कि देश में महत्व पूर्ण भागों की यात्रा छूटने न पावे। चारों धाम (बद्रीनाथ, जगन्नाथ, रामेश्वर, तथा द्वारिका) देश के चार कोनों पर स्थित हैं। इनकी यात्रा करने वाले को सारे देश की परिक्रमा करनी पड़ती है और भारत की समस्त संस्कृतियों, रीति नीतियों, भाषाओं तथा भावनाओं के सम्पर्क में आना पड़ता है, ज्योतिर्लिंगों, पुरियों, पुण्य सरिता सरों, एवं क्षेत्रों की यात्रा का क्रम भी ऐसा ही है जिनकी यात्रा में बड़े महत्व पूर्ण भूखंडों का संपर्क होता है। यह संपर्क देश की सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक तथा बौद्धिक उन्नति के लिए बहुत ही उपयोगी सिद्ध होता है।

मानवीय विद्युत विज्ञान की दृष्टि से यह सिद्ध है कि जिन स्थानों में विशिष्ठ आत्म बल वाले महापुरुष निवास करते हैं वहां का वातावरण उनकी आत्म विद्युत से भर जाता है। जहां कोई अहिंसा की साधना वाले तेजस्वी महात्मा निवास करते हैं वहां का वातावरण ऐसा शान्ति दायक हो जाता है कि गौ और सिंह आपस में प्रेम पूर्वक निर्भय होकर रहते हैं। अपना स्वाभाविक बैर भाव भूल जाते हैं। इस प्रकार जहां कोई अवतारी, कलाधारी, अलौकिक आत्माएं रही हैं वहां का वातावरण भी उनके दिव्य तेज से भर जाता है और वह बहुत समय तक उन आत्माओं के चले जाने के चिरकाल पश्चात् तक बना रहता है। तपस्वी महात्मा अपनी तपश्चर्या के लिए प्रायः ऐसे स्थानों को चुना करते हैं जहाँ इस प्रकार के आत्म तेज पूर्वकाल से ही विद्यमान हों। क्योंकि इससे उनको बल प्राप्त होता है, साधनों के विघ्नों से अनायास ही बहुत अंशों में छुटकारा मिलता है। इस परम्परा के अनुसार एक उन स्थानों पर एक २ करके अनेकों महात्माओं के आत्म तेज के परत जमा होते जाते हैं। उस भूमि, जल, वायु, आकाश में वह दिव्य तेज भरा रहता है। कल्प कल्पान्त से असंख्य महात्माओं, अवतारी पुरुषों का सुदृढ़ आत्म तेज जिन स्थानों में पाया गया है वह तत्वदर्शी मनीषियों से तीर्थ स्थापित किये हैं। वस्तुतः वह स्थान "सिद्धपीठ" हैं। वहां के वातावरण में सुलभता से सिद्धि प्रदान करने वाले तत्व भरे रहते हैं। इन तत्वों के प्रभाव से अध्यात्म मार्ग के पथिकों को असाधारण सफलता प्राप्त होती है। जिस प्रकार वृक्ष की छाया में बैठने से सभी प्रकार के लोगों को शीतलता अनुभव होती है उसी प्रकार इन सिद्धपीठों की छाया में पदार्पण करने से सुख शान्ति एवं संकट निवारण की आशीर्वादात्मक भावनाएं सुलभता पूर्वक हर एक को प्राप्त होती हैं। कभी कभी तो ऐसे अप्रत्याशित लाभ लोगों को मिलते देखे जाते हैं

# पहले अपना सुधार करो ।।

जो सिद्धान्त मनुष्य जाति को उन्नति की ओर ले चलने में सबसे उच्चतम हो, उसे धैर्य और आत्म त्याग की शिक्षा दे तथा उसको अपने सजातीयों के साथ इस प्रकार मिलने दे कि व्यक्ति विशेष के मत या बहुमत के प्राबल्य पर भरोसा करने की आवश्यकता न रहे वही मनुष्य के लिए उत्कृष्ट सिद्धान्त है ।

यह सिद्धान्त धर्म का सिद्धान्त है । हमारा कर्त्तव्य है कि हम लोगों को विश्वास दिलावें कि वे सब एक ही ईश्वर की सन्तान हैं और इस संसार में एक ही ध्येय को पूरा करना उनका धर्म है । उनमें से प्रत्येक मनुष्य इस बात के लिए बाधित है कि वह अपने लिए नहीं, दूसरों के लिए जिन्दा रहे । जीवन का ध्येय कम या ज्यादा सम्पन्न होना नहीं बल्कि अपने को तथा दूसरों को सदाचारी बनाना है । अन्याय और अत्याचार जहां कहीं भी हो उनके विरुद्ध आन्दोलन करना एक मात्र अधिकार नहीं, धर्म है और वह भी ऐसा धर्म जिसकी उपेक्षा करना पाप है ।

अपने अधिकारों की जानकारी कर लेना एक बड़ी और बहुत समय तक रहने वाली उन्नति के लिए पर्याप्त नहीं है लेकिन इसका मतलब यह नहीं है कि हम किसी से अपने अधिकारों को छोड़ने के लिए कह रहे हैं हमारा मतलब तो केवल इतना ही है कि ये अधिकार तब तक स्थायी नहीं रह सकते जब तक कि हम अपने धर्म का पालन न करें इसलिए अधिकारों को पाने से पहले हमें धर्मात्मा बनना चाहिए । क्योंकि धर्मात्मा बनना ही अधिकार पाने का आधार है । जब हम यह कहते हैं कि ऐश्वर्य और सांसारिक लाभों को जीवन का ध्येय बनाकर हम स्वार्थी लोगों को पैदा करते हैं तो इससे यह मतलब हर्गिज नहीं निकालना चाहिए कि कोई इसके लिए प्रयत्न न करे या इसके लिए प्रयत्न करना पाप है । हमारा मतलब तो इससे यही है कि जब सांसारिक फायदों को साधन न मानकर साध्य मान लिया जाता है तो इसका बड़ा भयङ्कर और अनिष्टकारी फल निकलता है ।

जो समाज रोटी और मनोरंजक सामग्री पर संतोष कर लेता है वह एक अत्यन्त निकृष्ट कोटि का समाज बन जाता है । और उसका परिणाम यह होता है कि उन्हें बड़ी दुर्दशा के साथ अशिक्षित शत्रुओं का दासत्व स्वीकार करना पड़ता है । सब जगह ही सामाजिक उन्नति के विरोधियों की यह नीति रही है कि लोगों को शारीरिक सुख और सांसारिक लाभों का लालच देकर उन्नति और परिवर्त्तन के विचारों से पीछे हटाया जावे । तब क्या यह ठीक है कि हम अपने ही हाथों से अपने विरोधियों की सहायता करें ।

तुम्हारे लिए यह आवश्यक है कि तुम्हारी सांसारिक दशा सन्तोष जनक हो क्यों कि इसके बिना आत्मिक या मानसिक उन्नति नहीं हो सकती । साथ ही यह भी आवश्यक है कि कम परिश्रम करना पड़े जिससे कि हर एक आदमी प्रतिदिन कुछ घण्टे आत्मिक उन्नति के लिए लगा सके । यह भी आवश्यक है कि कम से कम तुम्हारे परिश्रम का मूल्य इतना तो हो कि तुम उसमें से कुछ बचाकर भविष्य की चिन्ता से मुक्ति पा सको और सबसे बढ़कर इस बात की आवश्यकता है कि तुम अपने अन्तःकरण को शुद्ध और पवित्र भावों से भरदो, यहां तक कि उन लोगों से भी कभी बदला लेने की इच्छा न करो जो तुम्हारे साथ अन्याय करते हैं । परन्तु ध्यान रखो कि जिन साधनों की तुम खोज कर रहे हो वे साधन हैं, ध्येय नहीं । इन साधनों का प्रयोग तुम अपना धर्म समझ कर करो न केवल अधिकार समझ कर । इनको सिर्फ इसी प्रयोजन

से ग्रहण करो कि तुम इसमें धर्मात्मा और सदाचारी बन जाओगे। यदि ऐसा न होगा तो तुम में और उन लोगों में क्या अन्तर रहेगा जिन्होंने तुम पर अन्याय किया है। अन्याय करने वाले तो सिर्फ इसीलिए अन्याय करते हैं कि उन्हें सांसारिक सुख, शासन और अधिकार चाहिए।

अपनी दशा सुधारना ही तुम्हारे जीवन का उद्देश्य होना चाहिए। अपने आपको सुधारने और सदाचारी बनाने से ही तुम अपने को उन्नत बना सकते हो। जब तक तुम केवल सांसारिक लाभों या किसी सामाजिक कार्य विशेष के लिए आगे बढ़ने का प्रयत्न करते रहोगे, तब तक तुममें से अनेकों छोटे छोटे अन्यायी और अत्याचारी उत्पन्न होते रहेंगे। दुष्प्रभाव और स्वार्थ से जबतक तुम्हें मुक्ति नहीं मिलती तबतक सामाजिक व्यवस्था में होने वाले किसी भी परिवर्तन से तुम्हें लाभ नहीं होगा।

इसमें सन्देह नहीं कि उन लोगों को सुधारना भी बहुत आवश्यक है जो इस समय तुम्हें सता रहे हैं परन्तु इसमें तुम्हें तब तक सफलता नहीं मिल सकती जब तक कि तुम स्वयं अपना सुधार न करलो।

---

# सारस्वत योग।

योगियों की दो श्रेणियां हैं। एक जनसेवा प्रधान दूसरे आत्म शान्ति प्रधान। जनसेवा प्रधान योग फिर वह चाहे किसी तरह का हो कर्मयोग ही कहलावेगा। कर्म की विभिन्नता के कारण तथा जनसेवा के आवश्यक एवं अत्यन्त आवश्यक अंगों के भेद से कई प्रकार के कर्मयोगी हो सकते हैं और उपयोगिता की दृष्टि से उत्तम मध्यम तथा निकृष्ट कोटियां भी हो सकती हैं। उसी प्रकार आत्मशान्ति की बात कही जासकती है। जिनके जीवन में आत्मशान्ति के लिए भक्ति का समावेश हुआ रहता है वे भक्तियोगी कहलाते हैं और जिनके जीवन में तप का समावेश हुआ रहता है वे संन्यासयोगी कहलाते हैं। परन्तु प्रत्यक्ष तप अथवा भक्ति के अतिरिक्त अनुभव लेने की तथा मनोरंजन की भावना प्रबल रहती है ऐसे लोग सारस्वत योग के साधक माने जाते हैं। सरस्वती की उपासना में संलग्न होकर आत्म सन्तोष पूर्वक सदाचारी जीवन बिताना ही वास्तव में सारस्वत योग है।

सारस्वत योग में सरस्वती का गुणकीर्तन नहीं होता बल्कि विद्या व्यसन होता है। ज्ञान का अर्जन होता है। यही ज्ञान जब जनसेवा के लिए प्राप्त किया जाता है तो साधक कर्मयोगी होजाता है पर आत्मसंतोष के लिए किया जाता है तब वह सारस्वत योगी कहलाता है।

विद्याव्यसन कई प्रकार का होता है और उसे कई प्रकार से चरितार्थ किया जाता है जैसे देशाटन द्वारा, पुरातत्व की खोज द्वारा, ग्रन्थ लेखन या काव्य निर्माण द्वारा, चित्र, वाद्य, संगीत के अध्ययन द्वारा। विद्या व्यसन किसी प्रकार का हो व्यसन के साथ कौन सी भावना काम करती है उस पर ही उसका श्रेणी भेद होता है। आत्म सन्तुष्टि के लिए लिखी जाने वाली पोथी या बनाया जाने वाला चित्र, या गाया जाने वाला राग, या रची जाने वाली कविता सारस्वत योग के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं हो सकता पर यदि आत्म सन्तुष्टि की भावना न हो, जनहित की भावना हो और उसीके लिए विद्या का अध्ययन चल रहा हो, पुस्तक लिखी जारही हो प्रेरणा देने वाली कवितायें लिखी जारही हों राग अलापे जारहे हों या चित्र बनाये जारहे हं तो वह सब सारस्वत योग न रहकर कर्मयोग होजाता है।

यह सम्भव है कि विद्या व्यसनी को कर्म योग करते हुए भी आत्मसन्तुष्टि मिले लेकिन यदि जनहित उसका ध्येय है तो वह ध्यानयोग के-तप, भक्ति और सारस्वत योग की श्रेणी में नहीं आवेगा। वह विशुद्ध कर्मयोग की श्रेणी में ही आवेगा इसी प्रकार आत्म सन्तोष के लिए की जाने वाली साधनाऐं जनहितकारी हों तब भी वह योगी कर्मयोगी न कहला कर सारस्वत योगी ही कहलावेगा।

योग में मुख्य वस्तु है वृत्ति-भावना, कर्म नहीं। कर्म के मूल में जो वृत्ति होती है, साधक को उसी वृत्ति के अनुसार लाभ होता है। यों तो जो भी कार्य किया जाता है उसका जनहित तथा आत्मसन्तोष पर अवश्य प्रभाव होता है। व्यष्टि और समष्टि को कार्य के प्रभाव से मुक्त नहीं किया जा सकता। लेकिन कार्य का साधक पर जो प्रभाव पड़ता है उसकी जो वृत्ति काम करती है, योग तथा उसके फलाफल का निर्णय उसीके आधार पर किया जाता है। उसी की श्रद्धा या वृत्ति के आधार पर वह कार्य उस साधक का निर्माण करता है। गीताकार ने भी इसीकी पुष्टि की है—

श्रद्धामयोऽयंपुरुषः यो यद्श्रद्धः सएवसः।

इसीलिए मूल बात है वृत्ति की।

योगी होने के लिए निष्पाप जीवन, तत्त्वदर्शीपन और समभाव आवश्यक है जब तक ये भाव नहीं होते तब तक योग की अवस्था प्राप्त नहीं होती। ये तो प्रत्येक प्रकार के योगी में होनी आवश्यक है। इनके होने के अनन्तर उसके कार्य जिस भावना से संचालित होते हैं उस पर योगी का श्रेणी भेद निर्भर करता है।

योगी चाहे जनहित करे चाहे आत्म तुष्टि लेकिन जन का अहित नहीं करता इसीलिए वह सर्वसाधारण की अपेक्षा कहीं उन्नत होता है। अन्यथा फिर सर्व साधारण में और उसमें कोई अन्तर नहीं रहता।

---

# हम भी अपना भाग पूरा करेंगे।

( श्री० विद्याशंकर पट्टानी इंजीनियर, पूना )

---

विगत सात वर्षों से मैं 'अखण्ड ज्योति' के सम्पर्क में हूं। इस बीच में कई बार मथुरा जाने का और 'अखंडज्योति' कार्यालय में निवास करने का अवसर मिला है। कुल मिलाकर चार मास से अधिक समय तक मैं वहां रह चुका हूं।

इन सात वर्षों में अत्यन्त बारीकी और सावधानी के साथ 'अखण्डज्योति' की क्रिया प्रणाली की परीक्षा करता रहा हूं इस परीक्षण के आधार पर विश्वास पूर्वक यह कहा जासकता है कि यह संस्थान मानव जाति के वास्तविक उत्कर्ष के लिए असाधारण कार्य कर रहा है।

'अखंडज्योति' संस्थान को एक आध्यात्मिक अस्पताल कहा जासकता है। अस्पतालों में अगणित प्रकार के रोगी आते हैं, इनमें से कुछ तो साधारण बीमारियों से पीड़ित होते हैं और अनेक ऐसे आते हैं जो भयंकर जीव-संकट में ग्रस्त हैं। जहर खाये हुए, सांप के काटे हुए, घायल, दुर्घटना ग्रस्त ऐसे रोगी आते हैं जिनका जीवन डाक्टर की योग्यता और सतर्कता पर ही निर्भर रहता है। अस्पतालों में कुशल डाक्टरों द्वारा निस्सन्देह अनेक रोगियों की भयंकर विपत्तियों को दूर किया जाता है। 'अखंडज्योति' आध्यात्मिक अस्पताल है। यहां नाना प्रकार के मनोविकारों से ग्रस्त व्यक्ति अपने कष्टों से छुटकारा पाते हैं। शोक से संतप्त, चिन्ता से व्याकुल, क्रोध से भुलसते हुए, निराशा से खिन्न, कठिनाइयों में भयभीत, अज्ञान से अन्धे, लोभ से कातर, विषय वासनाओं से जकड़े हुए, भ्रम

में उलझे हुए व्यसनों के दास अगणित व्यक्ति इस अस्पताल में प्रविष्ट होते हैं। इन रोगों के रोगी इतने दुखी होते हैं, इतनी विपन्न अवस्था में होते है कि यदि उनका उचित उपचार तुरन्त ही न हो तो वे अपने आपको ही नष्ट कर लेने तक सीमित न रहकर अन्य अनेकों व्यक्तियों को अपने कुकृत्यों से दुखी बना सकते हैं। हैजा, प्लेग, तपैदिक, खाज जैसे छूत रोगियों की तरह यह मनोविकार ग्रस्त मनुष्य दूसरे अनेकों को मनोविकारों में फँसा कर उन्हें दुख के गर्त में डुबा सकते हैं। ऐसे रोगियों की चिकित्सा करना—उन्हें मनोविकारों से मुक्त करना हर किसी का काम नहीं है। इस दुस्साध्य कार्य को 'अखंडज्योति' पूरा करती है। आचार्यजी का आकर्षक व्यक्तित्व, उज्वल चरित्र, बालकों सा मृदुल स्वभाव, अगाध ज्ञान, ब्राह्मणोचित तप, तथा बुद्धि कौशल इतना सर्वाङ्ग पूर्ण है कि उस की छाया में आने के पश्चात् संभव नहीं कि कोई दुख संतप्त मनुष्य दुखी रह सके। मैंने स्वयं अपनी आंखों ऐसे सैकड़ों व्यक्तियों को 'अखंड-ज्योति' संस्थान में देखा जो विपरीत परिस्थितियों या अभावों के कारण अपने आपको बड़ा दीन, दुखी, अभागा, नीच, पतित समझते थे और तात्कालिक किसी घटना के आवेश के कारण आत्म हत्या तक की तैयारी कर रहे थे पर जैसे ही आचार्य जी की छाया उन पर पड़ी कि उनकी विचार धारा कुछ से कुछ होगई।

लोभी को करोड़ों रुपये देकर भी सन्तोष नहीं कराया जा सकता, कामी को सुरपुर की सारी अप्सराऐं मिल जांय तो भी मन न भरेगा, क्रोधी के हाथ में वज्रदंड हो तो भी शान्ति से न बैठेगा, अज्ञान और भ्रम से जिसकी बुद्धि तम-साच्छन्न होरही है उसको सीधी बातें उलटी दिखाई पड़ेंगी, इस प्रकार के मनोविकार ग्रस्त मनुष्यों को उनकी इच्छित वस्तुऐं प्राप्त करादेने से उनके दुख को दूर नहीं किया जासकता, आज की इच्छित वस्तु प्राप्त होने पर उनके मनोविकार फिर नई नई विचित्र आवश्यकताऐं उत्पन्न करेंगे। और वे इतनी अमर्यादित होंगी कि उनकी पूर्ति असंभव होगी। इन उलझनों को सुलझाने का सही आधार तो मनुष्य के दृष्टि-कोण का, उसके सोचने के तरीके का, परिमार्जन करना ही हो सकता है। आचार्यजी यही करते हैं और यह होता है कि आते समय जो अपने को दुख दारिद्र से ग्रस्त समझते थे वे जाते समय सुख सौभाग्य से अपने को पूर्णतया सम्पन्न अनुभव करते हैं। इतना बड़ा दान कौन कर सकता है? याचकों को अयाचक बना देने की क्षमता आज किस दानी में है? पर मैंने अपनी आंखों देखा है कि ऐसा दान 'अखंडज्योति' द्वारा वितरित होता है, यहां से असंख्यों दरिद्र अपनी खाली झोली लेकर दीनता पूर्वक कुछ मांगने आते हैं और लौटते समय आत्मज्ञान की महती सम्पत्ति पाकर अपने आपको कुवेर सा धनी और इन्द्र सा सम्पन्न अनुभव करते हुए लौटते हैं मानसिक पीड़ाओं से झुलसते हुए व्यक्ति शान्ति के पालने में झूलते हुए वापिस लौटते हैं।

घटनाओं का वर्णन निरर्थक है। एक से एक विचित्र, दुखदायी, रोमांचकारी, कौतूहल वर्धक, रहस्यपूर्ण, मनोरंजक, हास्यास्पद, मूर्खतापूर्ण घटनाओं के शिकार मनुष्य अपनी दुख गाथाऐं लेकर, मुक्ति का मार्ग पाने के लिए आचार्य जी के पास आते हैं और देखा गया है कि कुछ असाध्यों को छोड़कर शेष सभी संतोष और प्रसन्नता के साथ वापिस लौटते हैं। ऐसा किस प्रकार होजाता है? यह प्रश्न प्रायः आश्चर्य पूर्वक पूछा जाता है। लोग ऐसा सोचते हैं कि आचार्य जी के पास कोई जादू, वशीकरण मैस्मरेजम, तंत्र, योग या देवसिद्धि आदि की विद्या है जिसके बल से लोगों की बुद्धि को पलट देते हैं, पर मैं अपने इस लम्बे अनुभव के आधार पर कह सकता हूं कि ऐसी कोई बात नहीं है। आचार्यजी का उज्वल चरित्र, ब्राह्मणोचित तप और सुलझा हुआ मस्तिष्क ही वह जादू है

जिसके आगे बड़ी बड़ी ओंधी खोपड़ी के मनुष्य सीधे होजाते हैं। ऐसे संस्थान यदि भारतभूमि पर दस बीस भी हो जांय तो भारतीय संस्कृति गौरव मयी प्रतिष्ठा का पुनरुत्थान होना कुछ भी कठिन नहीं है।

सत् का समर्थन और असत् का विरोध जहां न हो वहां मनुष्यता नहीं रहती। जिसे हम हानिकारक, बुरा, पापपूर्ण समझते हैं उसके नष्ट करने या निन्दा करने के लिए कुछ न करें तो यह स्पष्टता कर्तव्य की अवहेलना होगी। इसी प्रकार जो उचित है, उपयोगी है, कल्याण-कारी है, आवश्यक है, उसके समर्थन और पोषण के लिए हमारी कोई क्रिया न हो तो वह श्रद्धा एवं सद्भाव नपुंसक हैं, ऐसी उदासीनता एवं उपेक्षा हमारी कर्तव्य बुद्धि को कलंकित करती है। 'अखंडज्योति' द्वारा बहुत कुछ होरहा है, जो होरहा है वह महान है इतना कह देने मात्र से हमारा कर्तव्य पूरा नहीं होजाता। जो अच्छा है उसका सहयोग करना हमाराधर्म एवं कर्तव्यहै।

'अखण्डज्योति' एक मशाल है, जनता के अगणित हृदय बुझे हुए दीपक हैं। इन दीपकों को मशाल से स्पर्श कराके उन्हें प्रज्वालित किया जासकता है और उनके प्रकाश से चंद्र और स्वर्गिम दीपावाली का दृश्य उपस्थित होसकता है। इस महती संभावना के लिए हम लोग एक कड़ी बन सकते हैं, मध्यस्थ का पार्ट अदा कर सकते हैं। जो लोग अभी तक 'अखंडज्योति' से अपरिचित हैं, असम्बद्ध हैं उन्हें हम अपने प्रयत्न द्वारा परिचित या संबद्ध कर सकते हैं। इस प्रकार एक महान् यज्ञ में, युग निर्माण में, एक महत्व पूर्ण कार्य कर सकते हैं। हम चाहें तो दो चार व्यक्तियों को आसनी से 'अखंडज्योति' का सदस्य बना सकते हैं।

यह कार्य कुछ भी कठिन नहीं है। कठिन है केवल अपनी उदासीनता और उपेक्षा को छोड़ना, हम अधूरे मन से, झिझकते हुए बड़े संकोच के साथ, डरते डरते दबी जबान से जब किसी को पाठक बनने के लिए कहते हैं तो वह सोचता है कि इतनी झिझक का कारण इनका कोई स्वार्थ या कमीशन आदि प्राप्त करना होसकता है और जहां संदेह उत्पन्न हुआ वहां कोई मनुष्य कठिनाई से उसे स्वीकार करता है। परन्तु जिन्होंने पूरी सचाई के साथ विश्वास कर लिया है कि 'अखंडज्योति' के संसर्ग में आने वाले का हित ही होगा उसे झिझकने का कोई कारण नहीं। कोई अच्छी वस्तु हम कहीं पाते हैं, व देखते हैं तो अपने परिचितों से उसे लेने के लिए जोर देकर सलाह देते हैं या आग्रह करते हैं, उसका लाभ समझाते हैं तदनुसार वह भी उस वस्तु से लाभ उठाने को तुरन्त तैयार हो जाता है। यही नीति यदि हम 'अखंडज्योति' के बारे में अपनावें तो कोई कारण नहीं कि लोग प्रभावित न हों और उसे अपनाने को तैयार न हो।

मेरी ही तरह अखंडज्योति के अन्य पाठक भी यही अनुभव करते हैं कि 'अखंडज्योति' संस्था, ज्ञान यज्ञ की पवित्र वेदी है। इसको प्रज्वलित रखना आवश्यक है। यदि आवश्य है तो उसके लिए समिधा और सामिग्री जुटाने का कार्य भी हमें करना होगा ताकि इस यज्ञ की आहुतियां यथावत् चालू रहें। इस कार्य को हम 'अखंड-ज्योति' के नये सदस्य बढ़ाकर पूरा कर सकते हैं। ढाई रुपया वार्षिक की इतनी सस्ती, इतनी उच्च-कोटि की पत्रिका मिलनी कठिन है।

इस वर्ष के साथ 'अखंडज्योति' का ९वां वर्ष समाप्त होकर दशवां वर्ष आरंभ होता है। हम सब लोग अपना चंदा इस मास भेजेंगे ही परन्तु यदि हमें इस महान् संस्थान और उसके महान् उद्देश्यों के प्रति, वास्तव में प्रेम है तो स्वभावतः यह कर्तव्य हमारे ऊपर आजाता है कि उसका समर्थन और पोषण करें। इसकी एक छोटी कसौटी नये सदस्यों का बढ़ाना भी है। हम चाहें तो कुछ न कुछ नये सदस्य आसानी से बढ़ाकर अपने कर्तव्य का पालन कर सकते हैं। मैं इस वर्ष अखंडज्योति के पचास नये सदस्य बढ़ाने की प्रतिज्ञा करता हूं। मुझे अपने अन्य बन्धुओं से भी ऐसी ही आशा है।

# अखंड ज्योति द्वारा प्रकाशित अमूल्य पुस्तकें।

इन पुस्तकों की एक एक पंक्ति गहरे अनुभव और अनुसंधान के साथ लिखी गई है।

(१) मैं क्या हूं ? ।=) (२) सूर्य चिकित्सा विज्ञान ।=)
(३) प्राण चिकित्सा विज्ञान ।=)
(४) परकाया प्रवेश ।=)
(५) स्वस्थ और सुन्दर बनने की विद्या ।=)
(६) मानवीय विद्युत के चमत्कार ।=)
(७) स्वर योग से दिव्य ज्ञान ।=)
(८) भोग में योग ।=) (९) बुद्धि बढ़ाने के उपाय ।=)
(१०) धनवान बनने के गुप्त रहस्य ।=)
(११) पुत्र या पुत्री उत्पन्न करने की विधि ।=)
(१२) वशीकरण की सच्ची सिद्धि ।=)
(१३) मरने के बाद हमारा क्या होता है ? ।=)
(१४) जीव जन्तुओं की बोली समझना ।=)
(१५) ईश्वर कौन है ? कहां है ? कैसा है ? ।=)
(१६) क्या धर्म ? क्या अधर्म ।=)
(१७) गहना कर्मणो गतिः ।=)
(१८) जीवन की गूढ़ गुत्थियों पर प्रकाश ।=)
(१९) पंचाध्यायी धर्म नीति शिक्षा ।=)
(२०) शक्ति संचय के पथ पर ।=)
(२१) आत्म गौरव की साधना ।=)
(२२) प्रतिष्ठा का उच्च सोपान ।=)
(२३) मित्रभाव बढ़ाने की कला ।=)
(२४) आन्तरिक उल्लास का विकास ।=)
(२५) आगे बढ़ने की तैयारी ।=)
(२६) अध्यात्म धर्म का अवलम्बन ।=)
(२७) ब्रह्म विद्या का रहस्योद्घाटन ।=)
(२८) ज्ञान योग, कर्मयोग, भक्ति योग ।=)
(२९) यम और नियम ।=)
(३०) आसन और प्राणायाम ।=)
(३१) प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि ।=)
(३२) तुलसी के अमृतोपम गुण ।=)
(३३) आकृति देखकर मनुष्य की पहचान ।=)
(३४) मैस्मरेजम की अनुभव पूर्ण शिक्षा ।=)
(३५) ईश्वर और स्वर्ग प्राप्ति का सच्चा मार्ग ।=)
(३६) हस्तरेखा विज्ञान ।=) (३७) विवेक सतसई ।=)
(३८) संजीवनी विद्या ।=)
(३९) गायत्री की चमत्कारी साधना ।=)
(४०) महान जागरण ।=) (४१) तुम महान हो ।=)
(४२) गृहस्थ योग ।=)
(४३) अमृत, पारस और कल्प वृक्ष की प्राप्ति ।=)
(४४) घरेलू चिकित्सा ।=)
(४५) बिना औषधि के कायाकल्प ।=)
(४६) पंच तत्वों से सम्पूर्ण रोगों का निवारण ।=)
(४७) हमें स्वप्न क्यों दीखते हैं ? ।=)
(४८) विचार करने की कला ।=)
(४९) दीर्घ जीवन के रहस्य ।=)
(५०) हम वक्ता कैसे बन सकते हैं ।=)
(५१) लेखन कला ।=)
(५२) प्रार्थना के प्रत्यक्ष चमत्कार ।=)
(५३) विचार संचालन विद्या ।=)
(५४) नेत्र रोगों की प्राकृतिक चिकित्सा ।=)
(५५) अध्यात्म शास्त्र ।=)
(५६) स्वप्न दोष की मनोवैज्ञानिक चिकित्सा ।=)
(५७) सफलता के तीन साधन ।=)
(५८) शिखा और यज्ञोपवीत का रहस्य ।=)
(५९) दूध की चमत्कारिक शक्ति ।=)
(६०) दैवी सम्पदायें ।=)
(६१) अध्यात्म विद्या का प्रवेश द्वार ।=)
(६२) कुछ धार्मिक प्रश्नों का उचित समाधान ।=)
(६३) सुखी वृद्धावस्था ।=)
(६४) आत्मोन्नति का मनोवैज्ञानिक मार्ग ।=)
(६५) वैज्ञानिक अध्यात्मवाद ।=)
(६६) प्रत्यक्ष फलदायिनी साधनायें ।=)
(६७) योग के नाम पर मायाचार ।=)
(६८) जादूगरी या छल ? ।=)
(६९) सौभाग्य बढ़ाने की कला ।=)
(७०) सम्मोहन विज्ञान ।=)
(७१) उन्नति का मूलमंत्र ब्रह्मचर्य ।=)
(७२) प्रभावशाली व्यक्तित्व ।=)
(७३) प्रेम का रहस्य ।=)
(७४) अमृत कण ।=)

मूल्य में कमी के लिए लिखा पढ़ी व्यर्थ है। ६) रु० से अधिक की पुस्तकें लेने पर डाक खर्च माफ।

# है उस महान् को नमस्कार ।

( साधुवेष में एक पथिक )

---

जो केवल परमानन्द रूप, है जिसका कण कण में निवास ।
उसको ही सब जग रहा खोज, जिसका यह जगमय चिद् विलास ॥
उस शक्तिमान् को नमस्कार ।

जिसकी विभुता इतनी विशाल, बसता है उसमें शून्य व्योम ।
जिसमें रहते पृथ्वी सागर, जिसमें चलते हैं सूर्य सोम ॥
उस प्रकृति प्राण को नमस्कार ।

जो एक प्रेम के भावरूप, पाते जिसको प्रेमी प्रवीन ।
आते रहते जिसके सम्मुख, नीचातिनीच दीनातिदीन ॥
उस दयावान् को नमस्कार ।

जिसको कहते हैं दीनबन्धु, जो दुखियों की सुनता पुकार ।
जिसकी महिमा अतुलित अनन्त, जिसका चहुं दिशि से खुला द्वार ॥
उस गुण निधान को नमस्कार ।

जिसकी इतनी है सरल प्राप्ति, मिल सकते हैं जो सभी ठाम ।
भक्तों के ही भावानुसार, दर्शन देते आनन्द धाम ॥
उसके विधान को नमस्कार ।

जो जीवन को निर्मल प्रकाश, मिटती है जिससे भूत भ्रान्ति ।
गल जाता है देहाभिमान, मिलती है पावन परम शान्ति ॥
उस दिव्य ज्ञान को नमस्कार ।

जिस बल से यह अज्ञेय तत्व, अनुभव होता यद्यपि अरूप ।
जिस बल से यह चिन्मय अचिन्त्य, चिन्तन में आता निज स्वरूप ॥
उस सतत ध्यान को नमस्कार ।

बढ़ती जिससे अनुरक्ति भक्ति, होता जिससे परमानुराग ।
ऐसा जिसका सुन्दर प्रभाव, हो जाय पथिक में मोह त्याग ॥

उस सत्य राग को नमस्कार ।

---